श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

आत्मानुशासन प्रवचन

प्रथम भाग

लेखक:—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

प्रकाशक —

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण १०००] १९६५ [मूल्य १)५०

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली :—

(१) श्री भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० वारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२, ,, सेठ गैदामल दगडू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मन्त्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर
(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मन्त्राणी, जैन महिला समाज, गया
२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह
(२५) ,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह

(२६) श्री सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर
(२७) ,, सेठ छदामीलाल जी जैन, फिरोजाबाद
(२८) ,, ला० सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बडौत
(२९) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया
(३०) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छाबडा, झूमरीतिलैया
(३१) श्रीमती धनवंती देवी ध. प. स्व. ज्ञानचन्द जी जैन, इटावा
(३२) श्री दीपचदजी ए० इंजीनियर, कानपुर
(३३) गोकुलचद हरकचद जी गोधा, लालगोला
(३४) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
(३५) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या, जयपुर
(३६) ,, बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ., सदर मेरठ
(३७) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
(३८) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
(३९) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुडकी प्रेस, रुडकी
(४०) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला
(४१) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला
(४२) श्रीमती शैलकुमारी जी, धर्मपत्नी, बाबू इन्द्रजीत जी वकील, बिरहन रोड, कानपुर।

—जिन नामोके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले X ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं। श्रीमती मक्खोबाई जी ध० प० सि० रतनचन्द जी जैन जबलपुरने संरक्षक-सदस्यता स्वीकार की है।

—:० * ०:—

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]
मैं वह हूं जो हैं भगवान्, जो मैं हू वह हैं भगवान्।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥

[२]
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]
सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥

आत्मानुशासन प्रवचन

प्रथम भाग

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं निधाय हृदि वीरम् ।
आत्मानुशासनमह वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥१॥

आत्माके अनुशासनके यत्नमे मगलाचरण—पूज्य श्री गुणभद्र आचार्य देव ने यह आत्मानुशासन नामका ग्रन्थ लिखा है। इसमें आत्मापर अनुशासन किया है। जिस प्रकार यह आत्मा सुबोधको प्राप्त होकर सन्मार्गमे लगे, उसी प्रकारका उपदेश इसमे दिया गया है। ग्रन्थके आदिमें आचार्यदेव मगलाचरण कर रहे हैं। लक्ष्मीके निवासका जो मंदिर है अर्थात् जहां लक्ष्मीका निवास होता है और जहा विलय विलीन हो गया है—ऐसे वीरप्रभु को हृदयमे धारण करके भव्यजीवोंके मोक्षके लिए मैं आत्मानुशासन ग्रन्थ को कहूगा। इसमे वीरप्रभुको नमस्कार किया है। वीरका अर्थ नामकी अपेक्षा से वर्द्धमान स्वामी हैं और शब्दव्युत्पत्तिकी अपेक्षासे वीरका अर्थ है, जो विशिष्ट लक्ष्मीको प्रदान करे। वीरमें तीन शब्द हैं— वि ई और र। ये तीनो स्वतत्र शब्द हैं। 'विशिष्टां ई लक्ष्मीं राति ददाति इति वीर।' जो विशिष्ट लक्ष्मीको देवे उसे वीर कहते हैं। विशिष्ट लक्ष्मी है आत्माकी ज्ञानलक्ष्मी, उसकी प्राप्तिके निमित्त हैं ये प्रभु।

सकल पदार्थोंमें साधारण गुणोंका दर्शन

समस्त पदार्थ सत्स्वरूपकी दृष्टिमे एक समान हैं। प्रत्येक पदार्थमें अस्तित्व, वस्तुत्व द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व, प्रमेयत्व—ये ६ गुण हुआ करते हैं। यदि कुछ है तो उसमे ये ६ बातें अवश्य हैं। जिसमे ये ६ गुण नहीं हैं वह चीज ही नहीं है। अस्तित्वका अर्थ है कि जिस गुणके कारण पदार्थका अस्तित्व रहे, पदार्थमे सत्ता बनी रहे, उसका नाम अस्तित्व गुण है। जब कोई वस्तु है तो उसमे अस्तित्व आ ही गया, अस्तित्व न हो तो पदार्थ ही कैसे कहलाये ? पदार्थमें अस्तित्व गुण है अर्थात् है।

अस्तित्वगुणसे सत्स्वरूप हुए अर्थमें वस्तुत्वकी झलक

जो है, है, वह यदि सबकी अपेक्षासे "है" होने लगे तो वह पदार्थ ही न रहेगा। जैसे किसी एक वस्तुको निगाहमे लेकर उसके प्रति कहा जाय। मान लो चौकी को निगाहमे ले लिया, अब इसके बारेमें कहें कि यह चश्मा है, यह पुस्तक है, तो चौकी कहां रही फिर ? जो भी है वह अपने स्वरूपसे

है, परके स्वरूपसे नहीं है। देखिये मुखसे कोई शब्द बोले तो स्याद्वाद आना ही पड़ेगा। आप कहेंगे कि यह चश्मा है तो इसका अर्थ यह है कि चश्मे को छोड़कर बाकी जितने पदार्थ हैं वे नहीं हैं। यह जहां 'है' का विधान है वहां 'नहीं' साथमें जुड़ा हुआ है। जहां नहींका विधान है वहां है साथ जुड़ा हुआ है। जगत्में कोई भी ऐसा है नहीं है जो 'नहीं है' को छोड़कर रहे। और ऐसा भी कोई नहीं है जो है को छोड़कर रहे। विधि और निषेधका परस्परमें अविनाभाव है। बात बोलनेमें ही स्याद्वाद भरा है। भले ही कोई पुरुष दूसरी दृष्टिका व्यावहारिक उपयोग न करे, किन्तु अंतःकरणमें दूसरी दृष्टि समाई हुई है अन्यथा वह बात नहीं कर सकता है। दूसरी दृष्टि न रहे और फिर बात करे तो वह पागल पुरुषोंमें माना जाता है। प्रत्येक पदार्थ है, यह तो हुआ अस्तित्व गुण और वह पदार्थ अपने स्वरूपसे है परके स्वरूपसे नहीं है— ऐसा अपने स्वरूपका उपादान और परस्वरूपका परिहार जिस गुणके कारण हो उसे कहते हैं—वस्तुत्व गुण।

पदार्थोंमें द्रव्यत्वगुणका दर्शन

इन समस्त पदार्थोंके ६ सामान्यगुणोंकी चर्चा चल रही है, जिनके बिना पदार्थ अपना अस्तित्व नहीं रख सकते। पदार्थमें दो गुण तो कबूल कर लिये कि वे हैं और अपने स्वरूपसे हैं, परस्वरूपसे नहीं हैं, इतने मात्र से पदार्थकी सत्ता कायम नहीं रहती। पदार्थ यदि है तो वह निरन्तर किसी न किसी रूप परिणमता ही रहेगा। ऐसा जगत्में कोई है नहीं है, जो है तो है किन्तु परिणमन नहीं करता। भले ही समान परिणमन होने से ध्यानमें न आ पाये कि यह परिणम रहा है। जैसे कोई पुरुष १० सेर वजनकी वस्तु को हाथ पर धरे हुए १५ मिनटसे खड़ा है, न हाथ हिले, न सिर हिले, ज्योंका त्यों खड़ा है तो उसे देखकर सामान्य लोग यह कहेंगे कि यह कुछ कर ही नहीं रहा है, ज्यों का त्यों खड़ा है। पर आपको क्या मालूम है, वह प्रति सेकेण्ड बड़ा भारी काम कर रहा है, वह अपना नया-नया बल लगा रहा है, नहीं तो चीज गिर जाती। समान परिणमन है, लोगोंकी दृष्टिमें नहीं आ रहा है, किन्तु परिणमन निरन्तर हो रहा है। यों ही प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहता है। ऐसे परिणमनशीलता का गुण होना, यही द्रव्यत्व गुण है।

पदार्थोंमें अगुरुलघुत्व गुणकी अनिवार्यता

अब पदार्थमें तीन गुण तो स्वीकार कर लिये, लेकिन यह द्रव्यत्वगुण कभी उद्दण्डता करने लगे कि मैं तो परिणमनका विरद रख रहा हूं, परिण-

मूँगा, चाहे अपने रूप परिणमूँ, चाहे अन्य किसी वस्तुरूप परिणम जाऊँ, मुझे तो परिणमनका हुक्म मिल गया है। अब इस चर्चामें वस्तुस्वरूपके प्रसगमें यदि ऐसा होने लगे कि कोई पदार्थ जैसा चाहे किसी दूसरे रूप परिणमने लगे तो कितना अंधेर हो जाय ? चीज ही मिट जाय। यदि यह मैं इस चौकीरूप परिणम जाऊँ तो इसका अर्थ है कि मैं नहीं रहा, अब चौकी बन गया। ऐसा कभी देखा है ? तो यह भी एक नियन्त्रण है प्रत्येक पदार्थमें कि वह अपने स्वभावरूप परिणमेगा, किसी परवस्तुके स्वभावरूप नहीं परिणमेगा। इस विशेषताको कहते हैं अगुरुलघुत्वगुण। अ मायने नहीं गुरु मायने वजनदार, लघुमायने हल्का, पदार्थ न वजनदार हो जाय, न हल्का हो जाय। वजनदार कैसे होगा, पदार्थ दूसरेका परिणमन भी अपने प्रदेशमें रख ले तो वजनदार हो जायगा। हल्का कैसे होगा, पदार्थ अपना परिणमन अपने से बाहर करे, दूसरे पदार्थमें रख दे तो वह हल्का हो जायगा। कुछ ऐसा होता नहीं है। पदार्थ तो अपने ही स्वरूपसे निरन्तर परिणमता रहता है।

प्रदेशवत्व और प्रमेयत्व गुणका दर्शन

यों चार गुण सब सत् पदार्थोंमें सामान्यरूपसे हैं। इतनी बात कहने पर भी कुछ स्पष्ट ज्ञात नहीं होता है। कैसे स्पष्ट ज्ञात हो ? ये चार बातें जिसमें बतायी जावें उसका आकार, प्रदेश, आधार जब तक दृष्टिमें न हो तब तक इन चार बातोंका क्या अर्थ हुआ ? प्रत्येक वस्तु प्रदेशात्मक है।। जिसमें ये सर्वगुण पाये जाते हैं, इस ही विशेषताको कहते हैं—प्रदेशवत्व इतना सब कुछ हो जाने पर भी यदि पदार्थ किसीके द्वारा भी ज्ञेय नहीं है तो पदार्थका क्या उठता है ? यों प्रमेयत्व गुण भी समस्त पदार्थोंमें विद्यमान है।

आत्माका असाधारण गुण

इन ६ गुणोंसे तो मेरी सबसे समानता है। अब मुझ आत्मामें कौनसी वह विशेषता है जिसके कारण मैं अन्य समस्त पदार्थोंसे जुदा ज्ञानमें आ सकूँ ? वह विशिष्ट गुण है ज्ञान। ज्ञानगुण एक ऐसा है जो आत्माको छोड़ कर अन्य किसी पदार्थमें नहीं रहता। तब यह ज्ञान एक विशिष्ट लक्ष्मी हुआ। लक्ष्मीका अर्थ चार हाथ, दो पैरों वाली कोई कल्पित स्त्री नहीं है। लक्ष्मी, लक्ष्य, लक्षण—ये तीन एकार्थक शब्द हैं। लक्षणका नाम लक्ष्मी है, उसका जो विशिष्ट लक्षण है वही मेरी विशिष्ट लक्ष्मी है, वह लक्ष्मी है ज्ञान इस ज्ञानतत्व को जो प्राप्त करता है उसे कहते हैं वीर। वि ई र—ये तीन।

शब्द मिलकर वीर बना है। ऐसा वीर ज्ञानपुञ्ज आनन्दनिधान प्रभु होता है। वीर प्रभुको हृदयमें धारण करके इस ग्रन्थको कहनेकी प्रतिज्ञा आचार्य देवने की है।

प्रभुके निर्णयसे प्रभुताकी प्राप्तिका उत्साह— आत्माके अनुशासनकी बात तब ही विशिष्ट बनती है जब प्रभुको हृदयमें धारण किया जाय। हम भली बातें तो करें और भली बात यह हो सकती है या अमुकने की है, ऐसा कुछ भी चित्तमें न रहे तो भक्तिकी बात करनेमें विघ्न आजायगा। किसी भी सदाचारका पालन हम भली भांति तब कर पाते हैं जब हमारे हृदय में यह निर्णय हो कि ऐसे सदाचारमें कुशल व्यक्ति भी होते हैं, जिनका ज्ञान करके हममें यह उत्साह जगता है कि हम भी सदाचारका पालन कर सकें। प्रभुको हृदयमें धारण करनेका प्रयोजन यह है कि प्रभुकी प्रभुता पहिचान कर अपनी प्रभुताके लिए उत्साह जगे। यों वीर प्रभुको हृदयमें धारण करके अनुशासन कहनेका संकल्प किया है।

प्रभुकी लक्ष्मीनिवासनिलयता व विलीनविलयता— वीर प्रभु लक्ष्मी के निवासके घर हैं। जिसमें स्वयं ज्ञानलक्ष्मीका निर्बाध निवास हो रहा हो वही प्रभु तो लक्ष्मीको प्रदान कर सकता है। ये प्रभु स्वयं इस ज्ञानलक्ष्मीके घर हैं, इन्होंने विलयको विलीन कर दिया है अर्थात् विनाशका विनाश कर दिया है। विलय मायने पापके हैं। पाप जहां विलीन हो गया है, नष्ट हो गया है—ऐसे निष्पाप ज्ञानके पुञ्ज वीर प्रभुको हृदयमें धारण करके आत्मानुशासन कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। आत्माका अनुशासन अर्थात् आत्माके स्वरूपके अनुकूल शासन। शासनका अर्थ साधारणतया शासन है और अनुशासनका अर्थ प्रयोजन की अनुकूलतापूर्वक शासन करना है। आत्माका जो स्वभाव है उस स्वभावके विकासके अनुरूप जो आत्मापर शासन होता है, उसे अनुशासन कहते हैं। आत्मा है ज्ञानानन्दस्वरूप। इस ज्ञानका जैसे परिपूर्ण विकास हो और इस आनन्दका जिस प्रकार पूर्ण विकास हो, उस प्रकारसे आत्माको लगानेका उपदेश करना, सो आत्मानुशासन है।

ग्रन्थनिर्माणका प्रयोजन— यह आत्मानुशासन ग्रन्थ जीवोंके मोक्षके लिए कहा जायेगा। आत्मानुशासनका प्रयोजन संसारके समस्त संकटोंसे मुक्त हो जाना है। जब तक प्रयोजन चित्तमें नहीं समाता तब तक अनुशासन नहीं बन सकता। कोई पुरुष किसी नदीमें नावको चलाये, पहिले पूरबकी ओर चलाये, फिर पश्चिमको चलाये, फिर दक्षिणको चलाये, फिर उत्तरको चलाये। यों दिशाएँ बदल-बदलकर नावको खेवे तो उसका श्रम पागलपनसे

परिपूर्ण है। नाव तो जहां की तहा ही रही। नाव चलानेका प्रयोजन तो एक निर्धारित किनारे पर पहुच जाना है। इसी प्रकार जो भी धर्म किया जाता है, उपदेश ग्रहण किया जाता है, उन सबका प्रयोजन अभीष्ट होना चाहिए। जगत्के सभी जीव दु खोंसे डरते हैं और सुखको चाहते है। इस लिए प्रयोजन तो दु खसे मुक्त करा देनेका ही होना चाहिए, होता है।

ग्रन्थकर्ताका आशय— आचार्यदेव कहनेका प्रयोजन बताकर यह भी ध्वनित करते हैं कि हे श्रोताजनों! मै जो कुछ भी कह रहा हू ससारके सकटोंसे छुटकारा पानेके लिए, छुटकारा पानेकी बात कह रहा हू। मुझे न मानका प्रयाजन है और न कुछ लोभादिकका प्रयोजन है। कहीं श्रोताजन यह कल्पना न करले कि अपनी मान बढ़ाईके लिए यह ग्रन्थ रचा जा रहा है, उपदेश दिया जा रहा है। यदि वे ऐसा समझेंगे तो श्रोतावोंको कुछ लाभ न होगा और यह उद्यम श्रोताजनों के लिए ही किया जा रहा है कि वे अभी इस तत्त्वको परख लें और अपना हित साध लें। कहीं श्रोताजन यह न भ्रम कर जायें कि किसी लोभके खातिर यह ग्रन्थ रचा जा रहा है। मेरे किसी प्रकारके कषायका प्रयोजन नहीं है, बल्कि सब जीवोंमे प्रभुताका स्वरूप निरखकर उनकी प्रभुताके अनुरागसे चूंकि मुझे मेरी प्रभुताका मेरेमे दर्शन हुआ है, सो मुझे अनुराग हो रहा है कि यह प्रभुता सबके प्रकट हो, क्यो व्यर्थमें भ्रमवश अपने को बरबाद किये जा रहा है यह प्राणी। एक ज्ञान साध्य ही तो बात है कल्याण करनेकी। इतनी सुगम स्वाधीन परमहितकी बात प्रमादवश नहीं की जा रही है, इसका मुझे खेद है और प्रभुतास्वरूपका अनुराग है, अतएव मैं इस ग्रन्थको कह रहा हू।

शक्यानुष्ठान व क्रमिक उपदेशका आदर— उपदेश वह दिया जाना है जो किया जा सकता है। जो नहीं किया जा सकता, ऐसी बातका उपदेश करना यह बेतुकी बात है। उपदेशमे वह कहा जाता है जो एक प्रासगिक सिलसिलेवार हो। जो सिलसिलेवार नहीं है, जो कभी कुछ कहे, कभी कुछ कहे, चाहे कुछ अच्छी भी बात कह जाय, लेकिन ऐसे अटपट बेसिलसिलेका निरुपम विवेकी जनोंके द्वारा ग्राह्य नहीं होता है। जैसे किसी को उपदेश दिया जाय कि देखो जिन्दा सांपके फनमें मस्तकमें से एक मणि निकलती है उस मणिको निकाल ले आवो तो तुम्हारे सारे रोग दूर हो जायेंगे। कोई उस मणिको निकालने लगे तो उसका शरीर ही न रहेगा, साप डस लेगा और वह खत्म हो जायगा। अरे सापकी मणि लाना अशक्य है। इस प्रकारका अशक्य उपदेश देना विवेकी जन पसंद नहीं करते है। यों ही अटपट बेसिलसिलेकी बात कहना, यह भी ज्ञानियोंकी गोष्ठीका तत्त्व नहीं

रहा। जैसे थोड़ी देरमें कोई कहे कौवाके दांत हैं या और और अटपट बातें कोई करे तो वह पागलपन जैसी बात लगेगी। इस प्रकारकी बातें विवेकियों को ग्राह्य नहीं होती हैं।

अभीष्ट हितकर उपदेशासे आत्मानुशासन सभव— यों ही कोई अनिष्ट बात कहने लगे उपदेशमें जिससे खेद हो, ऐसी बातका भी उपदेश विवेकीजन नहीं देते हैं। इस ग्रन्थमें ये समस्त दोष नहीं हैं, सिलसिलेसे जैसे वैराग्य पुष्ट हो, आत्मामें ज्ञानप्रकाश बढ़े, वह वर्णन किया जायगा। अशक्यानुष्ठान भी नहीं है, जो बातकी जा सकती है उसका इसमें वर्णन होगा। अभीष्ट बात ही इष्ट बन जाय, आत्माका हित करे, ऐसे तत्त्वका ही उपदेश इसमें कहा जायगा। इस कारण यह समस्त उपदेश वास्तवमें आत्मानुशासन है, जिससे आत्मा अपने आपमें अपने हितको पानेके लिए अनुरूप शासित हो जाय, ऐसा यह उपदेश आत्मानुशासन है।

ग्रन्थरचनाका निमित्त— गुणभद्र आचार्यने अपने धर्म भाई लोकसेन मुनिको जो कि कर्मोदयवश विषयोंसे मलिन हुआ था, उसे सम्बोधित करने के लिए यह ग्रन्थ बनाया है अथवा उनको सम्बोधित करने के निमित्तसे सर्व जीवोंके उपकारके लिए यह ग्रन्थ बनाया है। ग्रन्थ बनानेके पूर्व इष्टदेवको जो नमस्कार किया जाता है वह निर्विघ्न कार्यकी समाप्तिके लिए किया जाता है अथवा इसके लिए नहीं। अच्छी बात कहने लगे तो वह तो स्वय समस्त मगलाचरण है। यह तो अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मगलाचरण किया जाता है और यह एक प्रयत्न श्रोताजनोंके भले के लिए कहा जा रहा है ना, सो श्रोताजनोंको कुछ प्रामाणिकता आ जाय, इसके लिए मूल देवका वदन किया जाता है, जिससे श्रोता भी जानें कि यह प्रभुकी परम्परासे चला आया हुआ प्रतिपादन है। यों मगलाचरणमें वीर प्रभुका वदन करके आत्मानुशासन ग्रन्थ कहने की प्रतिज्ञा की है।

दु खाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दु खापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥२॥

अभीष्ट वक्तव्यका सकल्प— ग्रन्थ प्रारम्भके प्रकरणमें गुणभद्र आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्! तू दु खोंसे निरन्तर डरता है और सुखोंको चाहा करता है। सो मैं भी दु खोंको दूर करने वाली और सुखको उत्पन्न करने वाली ही बात कहूगा। जो कि तेरे अनुकूल ही पडेगी। तू चाहता भी यही है कि दु ख दूर हों और सुख उत्पन्न हों। तो इस ग्रन्थमें वही बात कही जायगी जो दु खोंको दूर करे और सुखको उत्पन्न करे। ऐसा भय न लाना कि पता नहीं यह गुरु सुखसे छुटाकर कष्टका साधन बतावेंगे। जैसे कि आज

कल जो दूसरोंको नियम लिवानेपर ही उतारू रहा करते हैं, ऐसे किन्हीं त्यागी साधुजनोंको देखकर श्रावक पहिलेसे ही भय करने लगते हैं। उनके सामने जानेका भी साहस नहीं होता है। आचार्य महाराज यह कह रहे हैं कि जो तुझे पसन्द है, तेरे अनुकूल है वही उपदेश इसमें कहा जायगा। तू भय मत कर और ऐसे शास्त्रका अनादर मत कर, इसमे भयकी रंच भी बात न आयेगी। तेरा अभिप्राय दुःख दूर करनेका है और सुख पानेका है। उसही प्रयोजनको पुष्ट करने वाला यह उपदेश होगा।

वक्तव्यकी अभीष्टता— दुःख नाम उसका है जो इन्द्रियोंको असुहावना लगे। 'दु' नाम है असुहावना लगनेका और 'ख' नाम है इन्द्रियका। जो इन्द्रियको असुहावना लगे उसे दुःख कहते हैं और सुख नाम यद्यपि इन्द्रिय को भला लगनेका है, सो सुखमें यह जगत्का प्राणी साता समझता है, किन्तु वास्तवमें सुखमें भी आकुलता है। सुखकी इच्छा तो बताई है आनन्दकी समतासे। सुखसे भी परे जो आनन्ददायक तत्त्व है उस तत्त्वकी बातको कहेंगे। यहां कोई यह संदेह करे कि घरका रहना और विषयोंका साधना इनको तजकर उपदेशमें जो कुछ भी वर्णन आयेगा, वह तो कुछ कटु होगा है—ऐसे सदेह वाले शिष्यका भय मिटानेके लिए आचार्यदेव कह रहे है।

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्व कटु किञ्चित्।
त्व तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥३॥

अभीष्टताके प्रति भयनिवारण— यद्यपि इस उपदेशमे कदाचित् ऐसा भी मालूम पडे कि यह वर्तमानमें ऐसा कटु लग रहा है, लेकिन इसका भय न करना, क्योंकि इसका फल मधुर होगा। जैसे किसी रोगकी औषधिमें कोई औषधि कड़वी भी हो तो रोगी उस कड़वी औषधि को भी पी लेता है, क्योंकि उस औषधिका परिणाम मधुर निकलेगा। इसी प्रकार इस उपदेशमें कुछ कटुता भी मालूम पडे लेकिन इसका विपाक बड़ा मधुर है। उससे तू रंच भी भय मत कर। जो चतुर रोगी होता है वह कड़वी औषधि को भी 'आगे आराम होगा' ऐसे भावके वश ग्रहण कर लेता है, डरता नहीं है। ऐसे ही तू स्याना बन और इस शास्त्रमें कोई उपदेश असुहावना भी लगे तो भी उससे सुख होगा, आनन्ददशा होगी, ऐसा जानकर रंच भी मत डर। आचार्यदेवने एक आश्वासन दिया है कि इस ग्रन्थमें कहीं भी कटु लगने वाली बात न आयेगी। इस ग्रन्थका उपदेश इतना मनोरम और हितकारी है जैसे कि मानों माता बच्चेको दवा बतासेमें रखकर खिला देती है। उस बच्चे को दवा खानेमे रंच भी कष्ट नहीं मालूम होता और उसके फलमें वह आरोग्यता को प्राप्त कर लेता है। इस ही प्रकार आचार्यदेव बड़े प्रिय

हितकारी शब्दोंमे उपदेश देंगे, जो सुनते समय भी भला लगेगा और अगले समयमें भी वह हित पायेगा।

आचार्यदेव की अपार करुणा—यहा आचार्यदेव कितनी करुणा जाहिर कर रहे हैं, कैसी हार्दिक भावनासे मुमुक्षुको समझा रहे हैं ? उनकी दयाका कौन मूल्य चुका सकता है? इस ससारमें भ्रमण करते हुए इस जीवको सुयोगवश दुर्लभ मनुष्यदेह मिला है। ऋषिसतोंके उपदेश सुननेका अवसर मिला है, इन उपदेशोंसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है उस ज्ञानके अनुभवसे जिसके निरुपम आनन्द प्रकट होता है उससे पूछो कि तुम गुरुजनोंके उपकार का बदला चुकानेकी सामर्थ्य रखते हो ? तो गुरुजनोंका एहसान चुकानेमें कोई समर्थ नहीं है। जो सकटोंसे सदाके लिए छुटकारा पानेके उपायमें लगा दे और यह छुटकारा पा ले, उनके इस उपकारका ऋण किन प्रयोगोंसे चुकाया जा सकता है ?

मिथ्या आशयके आग्रहमें उपदेशलाभका अभाव—जैसे बावले पुरुष को हितकारी भी चीज दो तो उसे ज्ञान नहीं है। इसलिए वह उस चीजको फेंक देता है, ऐसे ही इस मोहमत्त ससारी जीवको दुर्लभ उपदेश साधन भी मिला है, फिर भी यह जीव अज्ञानवश उसकी उपेक्षा कर जाता है। यह प्राणी तो अपने इसही मोह ममत्वमें रगा पगा हुआ है। इसे सुबुद्धि नहीं जगती कि मैं समस्त परसे विविक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र निजप्रभुकी उपासना तो करूँ, मै अपने आपको सही तो पहिचानता रहूं। यथार्थ ज्ञान ही समस्त क्लेशोंसे छुटकारा देनेका उपाय है। सम्यग्ज्ञानके विना हम आपको कभी सतोष हो ही नहीं सकता। ये अध्रुव पदार्थ जो अहितरूप हैं, भिन्न हैं, जिनका कुछ भी परिणमन अपने आधीन नहीं है—ऐसे परपदार्थोंका आग्रह करना इस मोही जीवकी एक आदत पड़ गयी है। जो दुराग्रह करेगा उसको नियमसे मुँहकी खाना पड़ेगा। जो वात सम्भव नहीं है उसकी हठ कर लेना कैसे शान्तिका कारण बन सकता है ? चीज तो अपनी जगह है और यहा मान्यता कुछ बनायी जा रही है तो उसके कैसे सुख रह सकता है ?

अनहोनीको होनी करनेके दुराग्रहमे क्लेशभाजनता—कोई बच्चा हाथी जैसे जानवरको देखकर यह हठ करे कि मुझे यह मिल जाय। प्रथम तो हाथीका मिलना रखना सबके वशकी वात नहीं है और कोई मिल भी जाय तो हाथीका सरक्षण कितना कठिन है? खैर, हाथी वालेको बुलाकर बाप खड़ा करादे हाथीको तो उससे भी यह वालक सतोष न करे और यह हठ करने लगे कि मेरे तो घरमे बाध दो। खैर, कोई बाड़ा हो वहां खड़ा करा दिया जाय। इसके बाद बालक यह कहे कि इसे तो मेरी जेवमें रख दो, तो बतावो

जीवोंपर दया करके और अपने दिलको भी मसोस करके अपने दिलकी बातके भी विरुद्ध जहां नम्रता बताना चाहिये, अपने आपकी लघुता बताना चाहिये। यहां आचार्य यह कह रहे कि यह भी सन्देह न करना कि उपदेश देने वाले बहुत होते हैं, हम क्या सुनें? अरे जो यथार्थ उपदेश दें, यथार्थसे भीगे हुए हों, जगतका उद्धार कर सकें उनसे समझना कि इतनी बात दिल मसोस करके कही गयी होगी। कितनी अपार दया है आचार्यदेवमें कि हमारी बात से श्रोताओंका उपकार हो, इससे इतनी बात अपने मुखसे ही कह देते हैं। यह बड़ी करुणा भरी बात है। लोग तो यह कहते होंगे कि अपने मुख ऐसी बात कहना यह तो अच्छा नहीं।

खुद बीती बातसे ग्रन्थप्रणेताके आशयका अनुमान— कुछ वर्षोंसे चातुर्मासके दिनोंमें हम एक क्लास लगाते रहे हैं और विधिवत पढ़ाते रहे हैं और पढ़ने वाले सज्जन तीन माहमें तीन-चार ग्रंथ बराबर पढ़ जाते हैं। सो प्रथम १०-१५ दिन पढ़नेमें जब मन नहीं लगता है पढ़ने वालोंका तो उनके दिलको सम्हालने के लिए कई बार तो यह खुद भी कहना पड़ता है कि शायद पीछे पछतावोगे, ऐसा बढ़िया पढ़ने का अवसर तुम्हें फिर मिलना कठिन है। इस तरह कहकर उनके दिलको पढ़नेमें लगाते हैं। फिर १५ दिन बाद तो पढ़ने वाला खुद अपने आप क्लासमें आता है, फिर हमें जोर नहीं पड़ता। लोग कठिन समझकर पढ़ना छोड़कर घर न बैठ जायें, इसके लिए मुखसे अपनी प्रशंसाकी बातें दुःखके साथ कहनी पड़ती हैं, ऐसा हम पर भी बीतता है। फिर आचार्यदेव तो महान से भी महान हैं। वे इस महान शिक्षाप्रद आत्मानुशासन ग्रन्थमें बड़ी करुणा करके यह बात कह रहे हैं।

आचार्यदेवका नीति रीतिरूपमें कथन— आचार्यदेव इस श्लोकमें प्रकट यह नहीं कहते हैं कि हमारा उपदेश यथार्थ और भीगा हुआ होगा। जो दुर्लभ जन हैं उनमेंसे हम हैं ऐसा आशय भी न लेना, बल्कि इस श्लोकसे सीधा भाव यह निकलता है कि व्यर्थ गरजने वाले व्यक्ति तो सुलभ हैं किन्तु जगतका उद्धार कर सकने वाले और खुद भी अंतरंगमें भीगे हुए हों, ऐसे व्यक्ति दुर्लभ हैं, इतना ही अर्थ है इस श्लोकका। लोग अपने हितमें स्वयं ही सद्गुरु पहिचान लेते ही हैं। ज्ञानी पुरुष अज्ञानीजनोंके शिक्षणके लिए और जो विरक्त नहीं हैं ऐसे प्राणियोंका धर्ममें चित्त लगानेके लिए, ऐसा भी कह सकते हैं। और ऐसा कहनेमें उनमें करुणा भरी है। यदि जीवोंके उद्धार करनेकी इतनी अधिक उनके हृदयमें वेदना न होती तो ऐसी बात वे न कह सकते थे। ऐसी बात सुनकर आचार्यदेव की कृपा निरखना समझकर उनके प्रति हमारी भक्ति और पवित्र बढ़ती है।

हितोपदेष्टाकी भावना— इस ग्रन्थमें आगे चलकर वक्तावोंका स्वरूप आयेगा कि वक्ता किस तरहका होना चाहिए ? यदि वक्तामें वे गुण न हों तो श्रोतावोंको एक बार तो बुरा लगेगा ही। पर क्या आचार्यदेव किसीको बुरा लगने के लिए बात कहते हैं ? श्रोताजन यथार्थ वक्ताका स्वरूप जान जायें और उन्हें यह विश्वास हो जाये कि मैं यथार्थ वक्ता हू तो इससे श्रोतावोंका उपकार है, वक्ताका क्या उपकार ? तो श्रोतावोंके उपकारके लिए श्रोतावोंके चित्तमें जो सदेह उठता है उस सदेहका निवारण करना, हितोपदेशी व्यक्तिका कर्तव्य है कि किसी प्रकार उस शकाका निवारण हो।

ज्ञानका ज्ञाननिधिमें मिलनपर एक दृष्टान्त— भैया ! ज्ञानकी महिमा अतुल है। ज्ञानकी महिमा तब जानी जा सकती है जब यह ज्ञान जहासे उठा है उसही में मिलनेका यत्न करे तो ज्ञात हो सकता है कि ज्ञानकी महिमा कितनी है ? क्या ऐसा भी हो सकता है कि ज्ञान जहासे निकलता है, निकलता हुआ ज्ञान मुड़ करके और उसही स्रोतमें मिल जाय, ऐसा हो सकता है क्या ? होता है। देखो यह जल जो बरसता है इस जलकी कहानी आपने सुनी ही होगी। इस जलका काम क्या है ? जहासे निकले वहीं मिल जाना इस जलका काम है। जब गर्मीके दिन होते हैं तो बडे तेज आताप सतापके कारण समुद्रमें से जल निकलता है भापोंके रूपमें। और वह भाप सघन बनकर बादलोंका रूप रखती है और ५-७ माहके बाद उनमें ऐसी योग्यता आती है कि वे मेघ बरसते हैं और बरसकर यह जल नीचेकी ओर ढुलकता है, नदियोंमें पहुचता है। नदिया भी उस ओर ढली हुई होती हैं जहा नीचाई हो, वह समुद्र है और नदियोंके माध्यमसे वह जल समुद्रमें ही मिल जाता है। जैसे समुद्रसे उठा हुआ जल समुद्रमें ही मिल जाय ऐसा सम्भव है, ऐसा भी सम्भव है कि कोई जल बीचमें ही कुछ समयको अटक जाय, पर अततोगत्वा किसी न किसी प्रकार जहा से उठा उसही में मिल जाता है। कैसी उस जल की प्रकृति है कि जहा ढाल मिली उस ओर ही चल दे, यह जलकी प्रकृति है। अर्थात् उसके विनयशीलताकी प्रकृति है। नीचेसे चलना इसका नाम है विनय। यह जल अपनी बडी विनय रख रहा है। उस विनयके कारण यह पानी जिस महानिधिसे निकला था उस ही निधिमें मिल जाता है।

ज्ञानका ज्ञाननिधिके मिलनसे सभूत ज्ञानकी महत्ताका परिचय— भैया ! जलकी भाति ही यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप आत्मासे निकलता है अर्थात् इस ज्ञानमय आत्माकी परिणति है, निकलना यों कहा कि जो ज्ञान पर्याय रूपमें आया है और निकलकर बाहरी पदार्थोंमें घुल मिल रहा है, उनमें

अटके रहा है, उनको जान रहा है, वही ज्ञान यदि अपनी विनय प्रवृत्ति बना ले अर्थात् यह उठा हुआ ज्ञान, परपदार्थोंमें मिला हुआ ज्ञान अपनी विनय प्रकृतिसे अपनी ही ओर झुककर दृष्टि करे तो यह ज्ञान बाहरसे हटकर अपने स्रोतमें मिलकर अनन्तआनन्दका अनुभव कर सकता है। तब यह ज्ञान समझेगा कि ज्ञानस्वरूप परमब्रह्मकी क्या महिमा है?

यथार्थताका प्रतिपादन— यहां दृष्टान्तमें अंतरङ्गमें जलसे भीगे हुए बादलोंकी कहानीमें आचार्यदेव यथार्थ ज्ञान वाले व्यक्तिकी दुर्लभता कह रहे हैं। एक चीज और है। भले आदमीको केवल भला किस लिए कहते है, क्या होता है, इसका व्याख्यान करने मात्रकी जरूरत होती है। उसे यह कहनेकी आवश्यकता नहीं होती है कि हम पर विश्वास करो। हम तुम्हें यथार्थ उपदेश देंगे, इसके कहनेकी जरूरत नहीं होती है। इसी नीतिके अनुसार आचार्यदेव वक्ताकी दुर्लभता बता रहे हैं।

विपाकमधुरताके कारण कटु औषधिका पान भी आवश्यक— आचार्यदेवने यह आश्वासन दिया था कि देखो तुम दुःखसे डरते हो, सुख चाहते हो तो तुम्हारे मन माफिक ही बहुत मधुरतत्त्वका उपदेश करेंगे। कदाचित् उसमें तुम्हें कोई बात कटु भी मिले, नियम, तप, संयम, संन्यास, परिग्रहका छोड़ना, कोई उपदेश तुम्हें कटु लगे, बोझ लगे, बोझ तो नहीं है बल्कि बोझको हटाने वाली बात है, लेकिन जो बोझमें ही अनुरागी है उसे बोझ तो सुहाता है और बोझ न रहे ऐसी बातपर विश्वास नहीं होता है। तो तुम्हें यदि कुछ कटु मालूम पड़े तो आंखें मींचकर उसे पी जाना, छोड़ना नहीं। जैसे रोगी लोग कटु औषधिको आंखें मींच कर पी जाते हैं, भला बतलावो तो औषधिने आंखें मींची हैं क्या? क्यों उसको आंखे मींच कर पी जाते है? कितनी ही कड़ुवी दवा हो तो आखें मींचकर पीते हैं।

आखोंका उद्दण्डतावृद्धिमें सहयोग— ये आखें सब उद्दण्डोंकी उद्दण्डता में सिरताज हैं। अगर आंखोंसे देखनेका योग मिले तो ये चार इन्द्रिया तेज उद्दण्ड हो जाती हैं। कभी आनन्दसे कानोंसे गाना सुन रहे हैं तो आनन्द तो सुननेमें ही आता है, पर आंखों देखे बिना चैन नहीं पड़ती है। कौन गा रहा है? किस तरह बैठा है। कानोंसे सुन रहे हैं, उसका कुछ मौज तो मिल रहा है पर आखोंसे देखे बिना चैन नहीं पड़ती। ये आखें मौजमें कुछ गुणा जरूर लगा देती हैं। ये आंखें उद्दण्डतामें सिरताज हैं। इत्र भी सूँघते हैं नाकसे तो उसके द्वारा मौज माननेकी बात बनती तो है नाक द्वारा, पर आखों देखे बिना नहीं मानते हैं। उसकी मौजमें ये आंखे कुछ गुणा जरूर दे देती हैं। ऐसे ही आंखों देखकर मधुर चीज खाने में और

आखों देखकर स्पर्शन इन्द्रियका भोग भोगने में उद्दण्डता बहुत अधिक हो जाती है।

आखोंकी उद्दण्डताके निवारणमें विधिका सहयोग— ये आंखें बहुत उद्दण्ड हैं, लेकिन आपको यह मालूम होना चाहिए कि विधिने पहिले से ही एक सहूलियत भी दे दी है। इन आखोंके ढकनेके लिए दो ढक्कन लगा दिये हैं, एक नीचेका और एक ऊपरका। सबकी आखोंमें दो-दो ढक्कन लगे हैं, जिन्हें पलक कहते हैं। अरे भैया! अब कष्ट क्यों भोगें? इन ढक्कनों का उपयोग कर लें, आखें मींच लें। सारे संकट और सारी विडम्बनाएँ मिट जायेंगी। ये ढक्कन कितना विशिष्ट काम देने के लिए मिले हैं। ऐसे ही इन इन्द्रियोंमें यह मुँह भी बड़ा चचल है और उद्दण्ड है। इसके लिए भी दो ढक्कन मिल गए हैं, नीचेका ओंठ, ऊपरका ओंठ, पर अविवेकीजन इन ढक्कनोंका उपयोग नहीं कर सकते। उनके लिए बेकार हैं। उन्हें तो ये ढक्कन न होते तो वे सौभाग्य समझते। कुछ कटु भी उपदेश लगे तो उसको आखें मींचकर पी जाना अर्थात् साहस बनाकर उपदेश सुनना और उसे धारण करना, इन्द्रियविषयोंको संयत करके अपने हितका ध्यान करके इस उपदेशको ग्रहण कर लेना, आनन्द ही आनन्द मिलेगा।

आचार्यदेवकी अपार करुणा और उनके आभार प्रदर्शनकी अशक्यता— अहा! कितने उपायोंसे आचार्यदेवने विशुद्ध उपदेश ग्रहण करानेकी कोशिश की है, यह उनकी अपार करुणा है। जिन योगीश्वरोंने राजपाट छोड़कर घरके बड़े सुखोंका परित्याग किया, निर्ग्रन्थ दशा ही जिनका कपड़ा है, केवल एक आत्मज्ञानकी ही जिनके लौ लगी है—ऐसी एकाग्रतासे वनमें रहकर अनेक उपसर्ग सहकर जिन्होंने ज्ञानानुभव प्राप्त किया है उन्होंने अपना नुक्सान करके भी हम आपके लिए बहुत बड़ी करुणाबुद्धि की है। कोई आचार्य ग्रन्थ लिखे या उपदेश दे तो वह तो अपना नुक्सान कर रहा है, वह आत्मसाधनासे कुछ हटकर श्रोताजनोंकी ओर दृष्टि देकर अपना नुक्सान कर रहा है, पर हम श्रोताजन यह समझें कि आचार्यदेवके हम कितने आभारी बनें, जो अपनी हानि सहकर भी हमारे लिए ज्ञानानुभूतिका कटोरा भरकर रख जायें और जो बड़ी कठिन साधनासे मिल सकने वाली प्रेरणा है, बुद्धि है वह हमें सीधे सादे शब्दोंमें स्पष्ट कहीं मिल जाय, इसके लिए हम गुरुजनोंका कितना आभार मानें? ये ससारके सारे समागम साथ न देंगे। जब तक हैं तब तक भी एक न एक चिंता शोक, शल्य ही उत्पन्न करते रहेंगे, किन्तु यह ज्ञानप्रकाशके अनुभवकी चर्चा है, जिससे हम ज्ञान सस्कार बना सकते हैं। यह ज्ञानसस्कार हमें सदा साथ देगा और प्रसन्न

अब इस इच्छाकी पूर्ति कैसे की जा सकती है ? क्या इतना बड़ा जानवर जेबमें रक्खा जा सकता है ? अनहोनी बातकी हठ करने वाला बालक कैसे सुखी हो, ऐसे ही अनहोनी बातका हठ करने वाला यह मोही मानव कैसे सुखी हो ? मेरा घर तो ऐसा ही बनना चाहिए। मेरी सम्पदा इतनी ही बढ़ जानी चाहिए, मेरे घरके प्रिय लोग कभी न गुजरें, मेरे ये विषयसुखके साधन निरन्तर बने रहें, यह सारी हठें अनहोनी बातोंकी की जा रही हैं। अनहोनी बातकी हठसे कभी आनन्दका मार्ग नहीं मिल सकता है।

क्लेशका आमन्त्रण— यह जीव स्वभावसे आनन्दमय है, इसको रंच भी क्लेश नहीं है। जो वस्तु जैसी है उसका उस प्रकार ज्ञान करलें, स्वरूप भी जैसा है उसका यथार्थज्ञान करलें, फिर कष्टका कोई नाम ही नहीं रहा। कष्ट तो केवल भयमें हैं। जगतके सभी जीव एकस्वरूपके हैं और अपने अपने उपार्जित कर्मोंके प्रेरे हुए हैं। मुझसे सभी अत्यन्त भिन्न हैं, लेकिन उन अनन्त जीवोंमें से दो चार जीवोंपर 'यह मेरा है' ऐसी दृष्टि डाली जाय और उनमें मोह बसा लिया जाय तो यह अनहोनी बातके करनेका यत्न है या नहीं ? अनहोनी कभी होनेके रूपमें आ नहीं सकती।

पदार्थमें भावाभावचतुष्टयरूपता— जिस पदार्थमें जिस प्रकारके परिणमनकी योग्यता है उस पदार्थमें उस ही प्रकारका परिणमन हो सकता है, यह है पदार्थकी भावभावरूपता। जिस पदार्थमें जिस रूप परिणमने की योग्यता ही नहीं है जैसे कि जीवमें रूप आदिक स्वरूप परिणमने की योग्यता नहीं है अथवा पुद्गलमें जाननेकी योग्यता ही नहीं है, तो अपने स्वभावके विपरीत परिणमनका अभाव बना रहना, यह है वस्तुकी अभावाभाव रूपता। वस्तुमें जो बात हो सकेगी उस बातका हो जाना, यह है भावभाव-रूपता। वस्तुमें वर्तमानमें जो परिणाम है उत्तरक्षणमें उस परिणमनका अभाव हो जाना, यह है भावाभावरूपता। जो परिणमन निकट भविष्यमें होगा किन्तु वर्तमानमें नहीं है वह परिणमन समय पाने पर हो जाय तो यह है अभावभावरूपता। जो परिणमन त्रिकाल हो नहीं सकता उसका त्रिकाल भी न होना, यह है अभावाभावरूपता। ऐसा यह पदार्थ स्वय अपने स्वरूपसत्त्व के कारण मजबूत है। उसे कोई छेदभेद नहीं सकता। किसी पदार्थकी कोई सत्ता मिटानेमें समर्थ नहीं है। मैं स्वयं सत् हू, ज्ञानानन्दस्वरूप हू, सबसे न्यारा हूं, देह तकसे भी जुदा हू, मेरा स्वभाव ही मेरा है, वह ही मेरे साथ रह सकता है, अन्य किसीसे मेरा साथ नहीं है—ऐसा यह मैं आनन्दमय स्वतन्त्र हू, सर्व कपटोंसे परे हू। क्यों मोह करनेकी उद्दण्डताकी जाय इसका फल कौन भोगेगा ? जो मोह करेगा वही कष्ट भोगेगा, दूसरा कोई

कष्ट नहीं भोग सकता।

ममत्वमें रुदनके अनिवारणका प्रतिबोधन— एक साधु महाराज जगलमें राजाको मिले। गर्मीके दिन थे, नीचे धूप, ऊपर धूप। राजाको दया आयी। राजा बोला, महाराज! आपके लिए हम एक छतरी देना चाहते हैं ताकि आपके ऊपरकी धूप बच जाय। साधुने कहा अच्छी बात। लेकिन छाते से ऊपरकी धूप तो बच जायेगी, किन्तु नीचेकी धूप कैसे बचेगी? तो राजाने कहा महाराज! हम रेशमके जूते बनवा देंगे। ठीक है पर सारा शरीर नगा रहेगा तो धूपकी लपट कैसे बचेगी? "" तो महाराज कपडे बनवा देंगे। अच्छा राजन् ठीक है, पर यह तो बतावो कि अच्छे कपड़े पहिन कर पैदल कैसे जायेंगे? महाराज! एक मोटर ला देंगे, उसका खर्च कैसे चलेगा? उसके लिए ५ गांव लगाए देते हैं। ठीक है राजन् पर यह तो बतावो कि खानेको फिर कौन पूछेगा? फिर तो मुझे कोई तिष्ठ तिष्ठ न कहेगा। तो महाराज आपकी शादी करा देंगे। वह स्त्री रोटी बनाया करेगी, इसके लिए ३ गाव और लगा लीजिए। ठीक है पर एक एक बात और पूछना चाहते हैं कि बच्चे तो होंगे ही और उनमें से कोई बच्चा गुजर जायगा तो फिर कौन रोवेगा? तो राजा बोला कि रोना तो आपको ही पड़ेगा। हम लोग न रो सकेंगे। जिसको ममता है रोवेगा वही। चाहे व्यवहारमें समझाने वाले अनेक आ जायें, लेकिन कष्ट वही भोगेगा जिसको ममत्व परिणाम है।

ज्ञानगति— यह जीव कैसी अमित प्रभुताका स्वरूप वाला है, किसी प्रकारकी इस आत्मामें कमी नहीं है, लेकिन व्यर्थके मोहपरिणाममें भ्रम बना लिया और किसीको अपना मान लिया, बाहरी चीजोंसे अपना बड़प्पन समझ लिया—यह व्यर्थका काम इस जीवको परेशान किए हुए है। भीतरमें ज्ञानका उजाला न हो तो यह कभी सतुष्ट नहीं हो सकता है, और ज्ञान ऐसी चीज है कि उसको कभी कोई रोक नहीं सकता। कोई यह जानें कि हम गृहस्थी हैं, गृहस्थके ऐसा ज्ञान नहीं बन सकता जो पदार्थोंको ज्योंका त्यों मान ले—ऐसी रुकावट गृहस्थीकी परिस्थिति नहीं कर सकती है। ज्ञान तो ज्ञान द्वारा ज्ञानका काम करेगा ही। चाहे कोई किसी स्थितिमें रहे, जो ज्ञान करना चाहे उसे ज्ञान हो सकता है। जो ज्ञान न करना चाहे वह निर्ग्रन्थ दिगम्बरका भेष भी बनाले तो भी उसे ज्ञान नहीं हो सकता है।

आत्मलाभमें कठिनाईका अभाव— भैया! वस्तुके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान कर लेना कोई कठिन बात नहीं है, कठिन बात तो परकी व्यवस्था कर लेना है। सम्पत्ति संचित करना कठिन है, दूसरोंको मना लेना कठिन है, किन्तु आत्मकल्याण कर लेना कठिन नहीं है। कठिन तो यह है कि सब पर-

वस्तुवोंकी घटनाएँ हम करलें। परवस्तुवोंमें कुछ बात कर सकना अनहोनी बात है। अनहोनी बात कठिन होती है। मैं विकल्प मिटाकर अपने आपमें अपने स्वरूपको निहारता रहूं—इसमें कौनसी कठिनाई है? दस पैसे पैदा करूँ इसमें कठिनाई है, क्योंकि किसीकी जेबसे तो निकाले नहीं जा सकते हैं। घरके लोग प्रसन्न रहें यह बात कठिन है, उन सबमें कषाय है। वे अपनी कषायके अनुकूल परिणमेंगे। शरीर मेरा बलिष्ट रहे, कभी मैं वृद्ध न होऊँ, यह बात होना कठिन है, क्योंकि शरीर भी परवस्तु है, उस पर मेरा कैसे अधिकार चल सकता है?

आत्मलाभसे क्लेशप्रक्षय— एक आत्माको छोड़कर अन्य सब बातें कर लेना यह एक अनहोनी बात है, कठिन बात है। किन्तु मैं परका मोह न रखकर केवलज्ञानस्वरूप अपने आपको निहारता रहूं, इस सहज आनन्द में ही मग्न रहू तो इसे कौन मेट सकता है? दूसरा कोई बाधक पुरुष हो, उसे रस्सीसे भी कस लो तो उसकी ज्ञानदृष्टि को क्या कोई छीन सकता है? कोई राज्यकर्मचारी कारागारके बन्धन में भी डाल दे और मैं वहा बंधनं रहित ज्ञानस्वरूपका स्मरण करूँ तो मेरे लिए कहा कैद है, कहां बन्धन है? मैं अपनी स्वरूपभावनासे चिगकर बाह्यपदार्थोंमें कुछ करनेकी कल्पना करता हू, इसका सारा क्लेश है। क्लेश आता है तो आने दो, एक निज ज्ञानस्वरूपको संभाल लो तो वे सारे क्लेशईंधन इस ज्ञानभावनाकी अग्नि से क्षणभरमें भस्म हो जायेंगे। क्लेश कहीं भी नहीं है। क्लेशरहित अपने ज्ञानस्वरूपको सभाल लो फिर कोई क्लेशकी बात नहीं है। इस ग्रन्थमें उसही आनन्दधामकी बातका उपदेश किया जायगा, जो सुनते समय भी कटु न लगे और धारण करते समय भी कटु न लगे। हे आत्मन्! तू इस उपदेशसे भय न कर।

जना घनाश्च वाचाला· सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षव·॥४॥

प्रासङ्गिक सन्देहनिराकरण— पूर्व दो श्लोकोंमें गुणभद्र स्वामीने यह बताया था कि हे आत्मन्! देख तू भय मत करना। जो तू चाहता है वही बात मैं कहूगा। तुम दुःखसे डरते हो और सुख चाहते हो, इस कारण मैं ऐसी ही बात कहूगा जो दु खको दूर करे और सुखको उत्पन्न करे किन्तु सम्भव है कदाचित् उस प्रतिपादनमें उपदेशमें कोई बात कुछ कष्टदायक भी मालूम पडे, कटु मालूम पडे, कुछ करने में कठोर मालूम पडे तो भी तुम डरना नही, उसका फल मीठा मिलेगा। जैसे रोगीको औषधि दी जाती है और कदाचित् कड़वी लगे तो भी वह रुचिपूर्वक पीता है, क्योंकि उसकी

समझमें है कि इस औषधिका विपाक मधुर ही होगा। यहां शक हो सकता है कि बात तो तुम ठीक कह रहे हो महाराज !-पर कहने वाले लोग तो बहुत हैं। बहुत आते हैं, लिख जाते हैं। हम कैसे समझें कि आप बात बिल्कुल सही और हमारे हितकी ही कहेंगे। इस सदेहके उत्तरमें मानों यह श्लोक कहा गया है। इस श्लोकमें बताया है कि ऐसे मनुष्य और ऐसे मेघ बहुत सुलभ हैं जो वाचाल हैं, बोलते बहुत हैं, किन्तु जो भीतरमें तो गीले हैं और लोगोंके उद्धार करनेकी भावना वाले हों या लोकोद्धारका जिनका विरद हो ऐसे मनुष्य और ऐसे मेघ दुर्लभ हैं।

मेघके दृष्टान्तपूर्वक उपकारी उपदेष्टाकी दुर्लभता प्रतिपादन— जैसे मेघ गरजने वाले बहुत होते हैं और व्यर्थ ही उठे हुए होते हैं, उनसे बूँदें नहीं टपकती हैं और व्यर्थ ही लोगोंको भय पैदा कराकर नुक्सान पैदा कर जाते हैं। कहीं बाहर जाना हो तो भाई-समय खराब है, देखो मेघ कैसे उठे हुए हैं और कैसा गरज रहे हैं। उसका बाहर जाना रोक दिया उन मेघोंने, उसका नुक्सान किया, और जो वरपनेका सट्टा लगाते हैं उनका भी ये गरजने वाले मेघ नुक्सान करते हैं। मेघोंकी शकल सूरत निरखकर सट्टा लगाने वाले लोग सट्टा लगाकर नुक्सानमें आते हैं और व्यर्थके गरजने वाले मेघ आशावान् किसानोंकी आशापर कुठाराघात कर देते हैं। इन मेघों से क्या फायदा है, जो व्यर्थ ही उठे हैं और गरज रहे हैं, ऐसे मेघ बहुत मिलते हैं। जितने दिन मेघ उठे हों उतने दिन कभी पानी बरसा है क्या ? मेघ उठे उसका ८ वा भाग भी यदि कदाचित् पानी बरसता है, ऐसे मेघ बहुत मिलते हैं, किन्तु जो मेघ अपने अन्तरमें भी गीले हैं अर्थात् जिनमें पानी भरा हो, जिनसे पानी बरसता हो और लोगोंका उद्धार कर देने वाले हों ऐसे मेघ दुर्लभ हैं। ऐसे ही समझें कि बोलने वाले बहुत आते हैं, लिख जाते हैं वाचाल और व्यर्थ ही अपनी महंतता प्रकट करने के लिए उद्धृत भी हैं, बहुत आते हैं ठीक है और ऐसे व्यक्ति दुर्लभ हैं जो अपने अंतरगमें भीगे हुए हों और अपनी वाणीसे जगत्के उद्धार करनेका भी यत्न करते हों।

श्रोताओंके उपकारके लिये अपार करुणाका आशय— हितमय हित-कारक वक्ताकी दुर्लभता कहनेमें आचार्य महाराजका क्या आशय है ? इस आशयको ग्रहण करना विवेकी पुरुषका ही काम है। इस श्लोकमें यह नहीं झलक रहा है कि ये आचार्य वक्ता श्रोतावोंके हृदयमें यह बात बैठाल रहे हैं कि ऐसे वाचाल सुलभ होते तो हैं किन्तु हमें उन जैसा नहीं समझना। ऐसे व्यक्ति दुर्लभ होते हैं जो जगत्का उद्धार कर सकते हों और खुद भी ज्ञान वैराग्यसे वासित हों। दुर्लभ हैं, पर मिलते हैं। देखो आचार्य महाराज

रक्खेगा। अब आचार्यदेव कुछ थोड़ी और भूमिका बनाकर आगे अपना वक्तव्य प्रकट करेंगे।

प्राज्ञ: प्राप्त समस्तशास्त्रहृदय: प्रव्यक्तलोकस्थितिः।
प्रास्ताश: प्रतिभापर: प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः॥
प्राय: प्रश्नसहः प्रभु: परमनोहारी परानिन्दया।
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥५॥

वक्ताके लक्षणोंका प्रतिपादन— इस आत्मानुशासन ग्रन्थमें वक्तव्य से पहिले आवश्यक भूमिकास्वरूप प्रतिपादन चल रहा है। इस समय वक्ता के लक्षण कहे जा रहे हैं। कैसा वक्ता होना चाहिए, जो श्रोतावोंके सही काम में आ सके। इससे पहिले श्लोकमें यह कहा था कि वाचाल और व्यर्थ उठे हुए अपनी महतपना जतानेके लिए व्याख्यानकर्ता बहुत मिलेंगे, किन्तु जो अन्तरङ्गसे भी गीले हैं अर्थात् ज्ञानकी वैराग्यकी वासनासे जिनका हृदय सुवासित है और साथ ही जगत्के उपकार करने की भी शुद्ध भावना है, ऐसे वक्ता लोग विरले ही मिलते हैं। वक्तामें इस श्लोकमें तेरा गुण बताते हैं। ऐ वक्ता! तेरे गुण इसमें तेरह बताये हैं। गुण तेरह होते हैं। ऐ श्रोता! यह तेरे कामकी बात सुनाई जा रही है। तेरह वक्ता तेरह गुण वाला होता है। वह वक्ता तेरा ही है और वह गुण भी तेरा ही हैं। कैसी वाणी हो अर्थात् गणका, समूहका नायक जो धर्मकी कथाको कह सके, उस गणीकी इसमें चर्चा है।

विशिष्ट बुद्धिमत्ता— वक्ताका पहिला गुण बताया है कि वह प्राज्ञ हो, बुद्धिमान् हो, जो लौकिक पारलौकिक भाषासम्बन्धी अन्य समस्त विद्याओंका जानकार हो, वह ही वक्ता श्रोताके काममें आ सकता है। बुद्धि एक स्वयकी निर्मलताकी देन है। जो जीव निष्कषायी अर्थात् मदकषायी होता है उसकी बुद्धि काम करती है। कषायें न करने से बुद्धिका विकास होता है। निमित्त दृष्टिसे ज्ञानावरणका क्षयोपशम होने पर बुद्धिका विकास होता है। अंग्रेजोंके समयकी बात है— बुन्देलखण्डमें एक रियासतका राजा गुजर गया। अब राजामाता और राजबेटा रह गये। सरकारने रियासतको एजेन्टके सुपुर्द कर दिया। जब वह २०-२१ सालका हो गया तो राजमाताने निवेदन किया कि पुत्र अब योग्य हो गया, इसकी रियासत इसे सौंप दी जाय। तो एजेन्टने उस लड़के को परीक्षार्थ बुलाया कि राजपदके योग्य वह है या नहीं। तो राजमाता उस बच्चेको समझाती है, देखो बेटा! साहब यों पूछे तो यह उत्तर देना, यों पूछे तो यह उत्तर देना। इस तरहसे १०, १२ बातें खूब समझा दीं। तो लड़का बोला— मां! यदि साहब इन सब बातोंमें से

कोई भी बात न पूछें तो क्या जवाब देंगे ? तो राजमाता कहती है कि बेटा जब तेरेमें इतनी तर्कणा उत्पन्न हो सकती है तो अब तू जरूर जवाब देकर आयेगा। वह चला गया। साहबने लड़केके दोनों हाथ पकड़ लिये और बोला कि बच्चे अब तू क्या करेगा ? अब तो तू परतंत्र हो गया। अब तेरा क्या वश चल सकेगा ? लड़का बोला– यह तो मेरे लिए बड़ा अच्छा हुआ। विवाहमें पुरुष स्त्रीका एक हाथ पकड़ता है तो उसे जिन्दगीभर उसका जीवन निभाना पड़ता है। अब तो मेरे दोनों हाथ पकड़े गये। मैं अब पूर्ण रक्षित हो गया। इतनी बात सुनकर साहब खुश हो गया और राज्यपद दे दिया। बुद्धिके बिना दूसरोंको क्या समझायें ? वक्तामें प्रथम गुण बताया है कि वह बुद्धिमान् होना चाहिए।

शास्त्रमर्मका वेत्तृत्व— दूसरा गुण बतला रहे हैं कि वक्ता ऐसा होना चाहिए कि जिसने समस्त शास्त्रोंका हृदय पा लिया हो। शास्त्रोंको पढ़ लेना और बात है और शास्त्रोंका हृदय पा लेना और बात है। रामचरित्रके बाबत लोकजनोंमें एक प्रसिद्धि है कि रावणके साथ युद्ध होनेके समय वानरसेना ने समुद्रको लाघ डाला। तो उस समुद्रके लाघ लेने से क्या उन वानरों को यह पता हो सकेगा कि इस समुद्रके भीतर कैसे-कैसे कहां-कहा रत्न पडे हैं ? यों ही कोई पंडित भाषावोंके बलपर शास्त्रोको देख डाले, एक ओरसे पन्ना पन्ना पढ़ डाले, शास्त्रोंको लाघ डाले तो क्या वह इतने मात्रसे इन शास्त्रोंमें क्या रत्न भरा है, क्या मर्म पड़ा है इसे पहिचान सकता है ? शास्त्रमें जो लिखा है वह यद्यपि सीधा लिखा है, पर उसमें मर्म क्या है ? इसका पता न हो पाये तो वह वक्ता के योग्य बात नहीं है। वक्ता शब्द बड़ा ऊँचा है। वक्ता कहो, नेता कहो, अपना पोषणहार कहो, अपना रक्षक कहो—ये सब गुण एक वक्ताके अर्थ देने वाले हैं। जिस वक्तामें ये गुण न हों, और वक्तापनका अभिमान करे तो लोगोंने उस वक्ताका नाम 'बकता' रख दिया है। बकता अर्थात् बकने वाला। जिसने समस्त शास्त्रोंका हृदय पा लिया है, वही वास्तवमें वक्ता है।

मर्मकी अनभिज्ञतामें विडम्बना— एक सेठ जब गुजरा तो उससे पहिले बहीमें लिख गया—बेटा लोगों ! कदाचित् जब तुम गरीब हो जावो तो मदिरकी शिखरमें धन गड़ा है सो माघ बदी चौदसके दिन ५ बजे शामको धन खोद लेना। सेठ तो गुजर गया। कुछ दिन बाद लड़के गरीब हो गए तो उस ही दिन, उस ही समय एक कुदाड़ी लेकर मंदिरकी शिखर पर बेटा चढ़ गया व खोदनेका यत्न करने लगा। एक बुद्धिमान् पुरुष वहासे निकला, देखा कि यह तो शिखर तोड़ रहा है। पूछने पर वृत्तान्त मालूम हुआ तो

वह विवेकी कहता है—अबे उतर वहां से, वहां धन नहीं गड़ा है, चल मैं बताऊँ जहां धन गड़ा है। वह विवेकी ले गया, जहां उस शिखरकी छाया उसके घरमें पड़ती थी। उस जगह खोदा तो धन मिल गया। अरे लिखा तो सही था कि शिखरमें धन गड़ा है, पर उस बेवकूफके दिमागमें यह न आया कि यदि शिखरमें धन होता तो माह बदी चौदसके ५ बजे शामको खोदनेका टाइम क्यों बताते ? यदि शिखरमे धन गड़ा होता तो किसी भी समय खोदा जाने पर मिल जाता, पर वहा तो उसका मर्म समझाना था। तो जो मर्म नहीं समझ पाते हैं वे भटकते ही रहते हैं, उनके हाथ कुछ नहीं लग सकता है। वक्ता वही वास्तवमें यथार्थ है जिसने समस्त शास्त्रोंका हृदय पा लिया हो।

लोकव्यवहारकी अभिज्ञता— वक्ताका तीसरा गुण कह रहे हैं कि उसके ज्ञानमे लोकव्यवहारकी स्थिति बिल्कुल स्पष्ट ज्ञात हो। कोई लोग पढ़ लिखकर होशियार भी हो जायें, किन्तु लोकव्यवहारसे बिल्कुल अनभिज्ञ हों, लोकव्यवहारमें रहने वाले लोगोंको तो शिक्षा देना है और उन लोगोंसे कैसा व्यवहार करना चाहिए ? किस प्रकार बोलना चाहिए ? किस ढंगसे समझाना चाहिए ? कौनसा देश किस प्रकृतिका है, कहां क्या पद्धति है ? लोक व्यवहार भी जब तक वह नहीं समझ पाता है तो वह वक्ता विधिविधान पूर्वक श्रोतावोंका जैसे हित हो उस प्रकारका उपदेश नहीं कर सकता है।

आशारहितपना— वक्तामें चौथा गुण बताया है कि वह आशारहित हो। किसी सेठ से मुझे कुछ आजीविका मिल जाय, रोजगारका कोई काम बन जाय, मुझे नौकरी दे दे अथवा मेरी खूब खबर करे, किस ही प्रकारकी आशा रखता हो तो वह पंडित श्रोतावोंको यथार्थ उपदेश न दे सकेगा। उसे तो यह पड़ी है कि ये श्रोता जिस प्रकार से खुश हो सकें, उस प्रकारका भाषण करना चाहिए। चाहे उसमें धर्मकी कोई प्रतिकूलता भी क्यों न हो ? एक राजसभाका विद्वान् राजाके समक्ष रोज कथा बांचता था। एक दिन वह पुरोहित किसी कामसे बाहर चला गया। तो उस पडितने अपने लड़केको कथा बांचनेके लिए भेज दिया। वह कथा बांचनेके लिए गया। उसमें निकला कि जो लेशमात्र मांस का भक्षण करे वह नरकमें जाता है। राजा खुद मांस खाता था। जब दूसरे दिन पुरोहित आया तो कहा कि तुमने एक ही दिन तो इस लड़केको कथा कहने भेजा, यह उसी दिन न जाने क्या-क्या उल्टी सीधी बक गया ? कहता था कि जो लेशमात्र मास भक्षण करता है वह नरक जायेगा। पुरोहित बोला—महाराज ! उसने ठीक कहा, जो लेशमात्र मांस भक्षण करता है वह नरक जायेगा, मगर जो सेरों मांस भक्षण करता है

उसकी बात नहीं कही गयी है। यों श्रोतावोंके कितने ही अनुरूप गड़बड़ बात बोलने वाला वह वक्ता यथार्थ वक्ता कैसे हो सकता है ? जो आशारहित हो, वह ही यथार्थ उपदेश देनेमें कुशल हो सकता है।

प्रतिभासम्पन्नता— वक्तामें प्रतिभाका गुण होना चाहिए। अपने कषायोंके शान्त होने के कारण होने वाली काय मुद्रासे और बुद्धिकी प्रखरता के कारण प्रतिभा भी होनी चाहिए। जो पुरुष विद्वान् भी है किन्तु प्रतिभावान् नहीं हैं, कुछ लज्जितसा होकर शास्त्र पढ़ लेता है तो वह शास्त्र श्रोतावोंके काम नहीं आ सकता। प्रतिभा भी वक्तामें होनी चाहिए। जिसके प्रतिभा नहीं है उसके शोभा नहीं है। बड़प्पन भी शोभित नहीं होता है। जब तक श्रोतावोंके चित्तमें यह बात न जम जाय कि यह महान् है और मेरा भला करनेमें समर्थ है तब तक उस वक्तासे श्रोतावोंको लाभ नहीं होता है।

प्रशमत्व— वक्तामें शान्तिका गुण भी होना चाहिए। स्वयका परिणाम उपशमयुक्त हो, मंद कषाय हो, जिसे जरा-जरा सी बातोंमें क्रोध आ जाय, जो अहंकारकी मदिरा पीकर अपनेको भुलाये रहे, अर्थात् अहकारभरी बात करे, जिसका अतरग मायाचारसे वासित हो, साथ ही लोभ हो और इन कषायोंके कारण जिसमें शान्ति न आसकी हो, उस वक्ता का श्रोतावो पर प्रभाव नहीं होता है। जिस वक्ताको महान् जानकर श्रोता जन अपने आपमें प्रभाव उत्पन्न कर सके, ऐसा वक्ता न हो तो वह यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता है। वक्तामें सबसे बड़ा गुण यह भी चाहिए। कोई साधु था। एक मनुष्य उसके पास गया। बोला, महाराज! आपका नाम क्या है ? शीतलसागर। थोड़ी देर बाद फिर बोला, महाराज ! मैं भूल गया आपका नाम क्या है ? शीतलसागर। फिर थोड़ी देर बाद बोला—महाराज ! आपका नाम क्या ? अरे बता तो दिया शीतलसागर। शीतलसागर, अच्छा महाराज अब मैं जान गया। आपका नाम ज्वालासागर है। तो यो अप्रशान्तका क्या प्रभाव पड़ा ? वक्तामें प्रशम का भी गुण होना चाहिए।

प्रागेव दृष्टोत्तरता— वक्ता विद्वान् हो, बुद्धिमान् हो, भीतर में प्रकाश वाला हो, किसी भी समस्याका, किसी भी प्रश्नका पहिलेसे उत्तर जानता हो। इस प्रसंगमें क्या-क्या प्रश्न उठ सकते हैं ? उन प्रश्नोंको कहकर उत्तर भी देता रहे। इस प्रसंगमें क्या-क्या प्रश्न हो सकते हैं, और कोई शकाकार इस समय क्या प्रश्न कर सकता है ? शकाकार प्रश्न न कर सके और खुद ही प्रश्नका उत्तर दे दे, इतना विकास जिसमें हुआ है वह वक्ता यथार्थ वक्ता होता है।

प्रश्नसहता— वक्ताके गुणोंमें एक गुण यह भी होना चाहिए कि वह

प्रश्नोंका सहन कर सकने वाला हो। कोई कुछ प्रश्न कर रहा हो तो प्रश्नोको सुनकर उतावलापन न आ जाय। कदाचित् प्रश्नका उत्तर न जानता हो, ये हो सकता है, छद्मस्थ अवस्था ही तो है। भले ही विद्याओंका निधान है, विद्वान् है, फिर भी कोई बात ऐसी रह सकती है कि जिसका उत्तर न आए तो यह कह देनेमे क्या बुराई है कि इसका उत्तर अभी हमारी समझमें नहीं आ रहा है, हम समझ लेंगे, फिर बतावेंगे। इतना कहनेमे कोई शान नहीं घटती है। जो हिम्मत रखता हो वही प्रश्नोंकी सहनशीलता रख सकता है।

छद्मस्थावस्थामें सभव ज्ञानहीनताका अनावरण— एक गुरु शिष्य थे व्यायाम सम्बन्धी गुरुने शिष्यको लाठी चलाना सिखाया। सीधी वेल, उल्टीवेल, चौमुखीवेल, जगमुखी आदि सब प्रकारकी लाठी चलाना सिखा दिया। अब वह शिष्य लाठी चलानेमे कुशल हो गया। अब शिष्य गुरुसे बोला, महाराज अब तो हम आपके साथ लाठी चलाना चाहते हैं, गाव भरका बुलावा करवा कर सबके बीचमें लाठी चलायेंगे। तो गुरु कहता है अच्छा बेटा! जा तुझे १५ दिनकी मोहलत दे दी। अमुक दिन तुम हमारे साथ लाठी चलाना। शिष्य छुप-छुपकर रोज देखा करता था कि गुरु महाराज क्या करते हैं? जो गुरु महाराज करे उसे मैं समझूँ और अपनी तैयारी करूँ ताकि लाठी चलानेमें हार न खानी पडे। गुरु महाराजने अपने दरवाजेके सामने एक १६, १७ हाथका लम्बा बास रख दिया। शिष्यने देख लिया कि इतना लम्बा लट्ठ गुरु महाराजने रक्खा है, सो उसने भी ३०, ३२ हाथका एक लम्बा मोटा बास लगुड युद्धके लिये तैयार कराकर रख लिया। अब सोचो तो सही कि इतने लम्बे मोटे बांसका उठाना कितना मुश्किल है? जब लाठी युद्धका समय आया तो शिष्य अपना बड़ा बांस लेकर आया। गुरु महाराज ने एक उसी सवा तीन हाथकी लकड़ीसे ही युद्ध किया और तनिक देरमें ही शिष्यको गिरा दिया। शिष्य बोला—महाराज! आपने हमें सब कुछ सिखाया था, मगर यह हाथ न सिखाया था। कौनसा हाथ कि अपने द्वार पर १६--१७ हाथका लम्बा बांस रखकर हमारी बुद्धिको भ्रष्ट कर देना। तो ऐसी बहुतसी विद्याएँ और कलाएँ सीख ली जाएँ और जबरदस्ती जोड़ तोड़कर अटपट ही किसी प्रश्नका उत्तर दिया जाय तो इसका प्रभाव श्रोताओं पर भला नहीं पड़ता। उससे भला यह है कि अपनी बिल्कुल स्वच्छता दिखा दे। भाई मेरी समझमें नहीं आ रहा है। हम समझेंगे, कोई बड़ा विद्वान् मिलेगा उससे या हम ही खुद समझकर फिर बता देंगे। यों वक्तामें एक प्रश्नसहनशीलताका भी गुण होना चाहिए।

वक्ताकी प्रभुता— वक्ताके लक्षणोंको बताने वाले इस छंदमे आठ

लक्षण बता दिए गए हैं। यह ६ वा लक्षण कहा जा रहा है कि वक्ता प्र होना चाहिए। प्रभुका अर्थ है समर्थ। जिसको श्रोता अपने से ऊँचा मा सकें, ऐसा वक्ता होना चाहिए। सबसे श्रेष्ठ वक्ता माने जाते हैं गणधरदे और उसके बाद आचार्य, उपाध्याय, फिर साधु, फिर श्रावक। इस तरह दर्जे चलते रहते हैं। न मिले कोई गुरु वक्ता तो अपने पड़ौसी सार्धर्मियों ही किसी एक को वक्ता मान लें जो वक्ता अन्य श्रोताजनोंकी दृष्टिमें महा हो। वक्ताकी महत्ता धनके कारण नहीं होती, किन्तु आचरण शुद्ध हो औ ज्ञान भी श्रोताजनोंकी गोष्ठीमें सबसे अधिक हो, इन दो गुणोंसे सम्पन्न वक्ता हो, साथ ही गृहस्थ धनिक हो तो उसकी प्रभुता और भी बढ़ जात है। खैर, वक्ताको समर्थ होना ही चाहिए। श्रोताजन जिस वक्ताके प्रति तुच्छताका भाव ला सकें, उस वक्तासे श्रोतावोंको कोई लाभ नहीं होता।

माया व असत् आचारसे प्रभुताकी हानि— एक कहावत प्रसिद्ध है- 'भायजीके भटा।' कुछ लोग जानते होंगे। एक ऐसा कथानक है कि कोई भायजी पंडित किसी सभामें भाषण कर रहे थे। एक प्रसंगमें भटाके अवगुण बखान रहे थे। भटा अभक्ष्य है। उसमें एक अवगुण यह है कि उसमें बड़े सघन पर्त होते हैं, उसके छोटे-छोटे टुकड़े भी कर दीजिए तो भी उनके मध्य कीड़ा छुपा रह सकता है। ऊपरसे ज्ञात नहीं होता। कोई लोग तो भटेको सीधा पूरा अग्निमें डाल देते हैं, उसका भुर्ता करके खाते हैं। कभी-कभी उसमें साबुत कीड़ा दिख जाता है तो खाने वाले को ऐसी अरुचि हो जाती है कि भटाको जीवन भरके लिए छोड़ना ही पड़ता है। हां तो भटाके अव- गुण भायजी बखान रहे थे। भायजी की स्त्री भी उस उपदेशको सुन रही थी। उस उपदेशको सुनकर स्त्री झट घर पहुची, सोचा कि आज भटा बने हैं, इन्हें फेंक दें, नहीं तो भाई जी नाराज होंगे। सो भटोंको डेगचीसे निकालकर नालीमें फेंक दिया। भायजीको भटा खानेका बड़ा शौक था। भाय जी घर आए, भोजन करने बैठे तो पूछा क्या आज भटे नहीं बने हैं ? तो स्त्री बोली कि आपके उपदेशको आज सुनकर मैं आयी, भटाके अवगुण आप बता रहे थे, सो हमने आकर नालीमें फेंक दिया, सोचा कि कहीं नाराज न हों। तो भाय जी बोले— अरी नादान, व्याख्यान दिया जाता है दूसरोंके लिए। भटाको अभक्ष्य बता रहे थे और लोगोंके लिए, हमारा तो भटाके बिना भोजन नहीं चलता। नालीके ऊपर ऊपरसे उठा लो। ऐसे ही करनी कुछ हो, बोलता कुछ हो। इस तरहका मायाचार का पता लोगोंको पड़ जाय तो ऐसे वक्तासे लोगोंको कुछ लाभ नहीं हो सकता। वक्ता अनेक दृष्टियोंसे प्रभु होना चाहिए, समर्थ होना चाहिए।

वक्ताकी मनोहारिता— श्रोताजनोंकी दृष्टिमे महान् वक्ताका एक गुण यह है कि वक्ता मनोहारी होना चाहिए। दूसरे के मनको हरने वाले वचन जिसके मुखसे निकलें वही वक्ता मनोहारी हो सकता है। वचनोंके सम्बन्धमें यह बताया गया है कि वचन वही लाभ करता है जो हित, मित, प्रिय वचन हो, जो वचन दूसरोंका हितकर सकें, दूसरोंको प्रिय लगें और हित, प्रिय होने पर भी वचन परिमित होना चाहिए। बहुत अधिक बकवाद करने की प्रवृत्ति जीवपर प्रभाव नहीं डाल सकती है। कोई वचन प्रिय तो लगें, पर जीवके लिए हितकारी न हों तो उन वचनोंसे श्रोताका भला नहीं हो सकता है। यों तो विषयकषायोंकी बातें, भोगविलासकी चर्चाएँ, यहा वहांकी गप्पें बहुत प्रिय लगती हैं। रातके १०-१२ भी बज जायें तो उस गप्प गोष्ठीके छोडनेका भाव नहीं होता है, पर उनमें हितपना तो है नहीं। कोई प्रिय वचन भी बोले, किन्तु वह हितकर नहीं हों तो भी वह अयोग्य वक्ता है। कोई मनुष्य हितकर बात तो बोले, मगर बोलने का ढग ऐसा कठोर हो कि सुनने वाले सुनना ही न चाहें तो जिन बातोंको श्रोता स्वय न पसंद करें, उन बातोंसे उनका हित कहा सम्भव है? इस कारण वचन ऐसे बोले जाने चाहियें जो हितमय हों और प्रिय हों? इतने पर भी कोई वक्ता बिना प्रयोजन अधिक बोला करे तो अधिक बोलने वालेके वचनोंमे बल नहीं रहता। इसलिए परिमित वचन होना चाहिए। वचन दूसरेके मनको हरने वाले होना चाहियें।

निन्दादूरता— वक्तामे एक गुण यह भी होना चाहिए कि वह निन्दा से दूर रहता हो। जो दूसरोंकी निन्दा न करता हो और जो स्वय भी निन्द्य न हो, ऐसी निन्दासे दूर रहने वाला वक्ता ही यथार्थ वक्ता हो सकता है। जगत्के जीवोंमें मनुष्य श्रेष्ठ मन वाले होते हैं, लेकिन अज्ञानसे मनुष्य मनका बड़ा दुरुपयोग करता है। भला बतलावो दूसरेकी निन्दा करनेमें निन्दकको कौनसा लाभ मिल जाता है? अनुभवसे विचारो। अपने मुखसे दूसरेकी निन्दा कर डालें तो इसमें खुदको कौनसा लाभ मिला? और जिसकी निन्दा की है उसका कौनसा सुधार हो गया, और जिन लोगोंने निन्दा भरी बात सुनीं, उन श्रोतावोंका क्या उपकार हो गया? अरे उपकार की बात तो दूर रही, इस निन्दकने अपना आशय दुष्ट बनाकर अपना बहुत बुरा किया। और जिसकी निन्दा की गई है, वह इसके आशयको परख जायेगा तो इसके वचनोंसे घृणा करेगा। वह सुधरे—यह बात तो दूर रही, जितने श्रोतावोंने निन्दा भरी बातें सुनीं, वे श्रोता स्वय ऊब जायेंगे और निन्दकको तुच्छ निगाहसे देखने के कारण कि इसकी दूसरोंकी निन्दा करने

की प्रकृति पड़ गई है, असर न होगा। निन्दामें सबका बिगाड़ है। जो वक्ता दूसरोंकी निन्दा करता है वह यथार्थ वक्ता नहीं है। यथार्थ वक्ता निन्द्य भी नहीं होता है। उसमें निन्दा योग्य कोई बात ही नहीं है। यों तो प्रभुकी निन्दा करने वाले जगतमें भरे पडे हुए है, पर विवेकी अयोग्यतारूप कुछ मान्यता दे सकें तो वह निन्दा कहलाती है। यह वक्ता निन्दासे तो दूर रहता ही है।

निन्द्य वचनोंका घाव— एक लकड़हारा था। जगलमें जाकर लकड़ी बीनकर गट्ठा लेकर चलने को हुआ तो सामने से एक सिंह आया। उसके पैरमें लगा था एक कांटा। सो कुछ कराह रहा था। लकड़हारेके पास आकर बैठ गया। लकड़हारेने देखा तो उसके पैरमें एक काटा चुभा हुआ था। उसे निकाल दिया। सिंह उसके ऊपर बहुत प्रसन्न हो गया और गिडगिड़ाकर कहने लगा—तुम यह लकड़ीका बोझ अपने सिर पर मत ले जाया करो, हमारी पीठ पर लादकर ले जाया करो। सो वह शेरकी पीठपर रोज-रोज लकड़ी लादकर ले जाया करे। पहिले तो १५-२० सेर लकड़ी लादकर लाता था, अब २५, ३० सेर लाद कर लाने लगा। फिर १ मन, २ मन, ३ मन लकडीका गट्ठा लादकर लाने लगा। इस तरहसे वह लकड़हारा कुछ ही समयमें धनी होने लगा। कारण कि धीरे-धीरे उसने दो दो तीन-तीन मन लकड़ी लाना शुरू किया। सो लकड़हारा कुछ ही दिनोंमें धनी हो गया। एक दिन वह लकड़हारा लकड़ी रख ही रहा था कि किसी व्यक्तिने आकर पूछा, कि तुम इतना जल्दी धनी कैसे बन गए? तो लकड़हारा बोलता है कि मेरे हाथ एक ऐसा गीदड़ लगा है जिसकी वजहसे मैं इतना जल्दी धनी बन गया हू। सिंह ने इस बातको सुन लिया कि यह मुझे गीदड़ बताता है। इस बात को सुनकर उसके दिल पर बहुत बड़ी चोट पहुची। उसके दूसरे दिन जब लकड़हारा तीन मन लकड़ीका गट्ठा बाधकर इस आशामे खड़ा था कि शेर आये तो लादकर ले जाएँ, तब वह शेर आया और उस लकड़हारेसे बोला— ऐ लकड़हारे! यह जो अपने हाथमें तुम कुल्हाड़ी लिए हो, इसे हमारी गर्दन में बडे जोरसे मारो। यदि नहीं मारते हो तो मैं तुम्हें मार डालूँगा। लकड़हारे ने सोचा कि यदि मैं मारता नहीं हू तो मेरा जीवन जा रहा है, सो उसने हिम्मत की और सिंहके गर्दनमें बडे जोरसे कुल्हाड़ी मारी। सिंह मरते मरते कह रहा था कि ऐ लकडहारे! तुम्हारी कुल्हाड़ीकी चोट तो मैं सह सकता हू, पर वे दुर्वचन जो मुझे गीदड बताया था, उनको मैं नहीं सह सका।

सद्वचन व्यवहारकी आवश्यकता— भैया! अज्ञानी मनुष्य कुछ नहीं

विचारते और जो मनमें आया सो बात कह डालते हैं। किसी को चुभने वाली बात कह देने से उसे कितना कष्ट पहुंचता है और यह कहने वाला भी कितना मनक्लेश करता है? अपने जीवनमे एक ही गुण लायें कि हम बोल संभालकर ही बोलेगे। किसीके द्वारा यदि कोई बिगाड़ भी पहुचता हो तो मैं अपने मनको ममोस लूँगा, क्यों कषायमें आकर दुर्वचन बोलूँ? दुर्वचन बोल देने से तो लडाई ही बढ़ती है और उसकी ओरसे भी प्राय. कष्टकी ही सम्भावना है। साथ ही दुर्वचन बोल चुकने पर हम क्षमा मागे और वह क्ष. ा करदे तो यह अपने हाथकी बात न रहेगी। किसी समय अपने दिलका मसोसकर रह जायें तो कुछ मिनट बाद अपने दिलको समझाया जा सकता है, पर दूसरेको वचन लगनेपर हम विवश हो जायेंगे। जैसे धनुषसे निकले हुए बाणको कितनी ही मिन्नत करो, ऐ बाण! तू वापिस हो जा, तू गलतीसे छूट गया है, वापिस हो जा, तो वह वापिस नहीं आ सकता है। ऐसे ही क्रूरमुखरूपी धनुषसे निकले हुए वचनोंका कितना ही पछतावा करो, पर वे वापिस नहीं हो सकते हैं। इस कारण वचन बोलनेसे पहिले हमे अपनी बड़ी सभाल रखना है। दुर्वचनोंसे किसीका भी हित नहीं है। निन्दा भरे वचनोंसे यह वक्ता दूर रहता है।

गुणनिधित्व— धर्मकथाका करने वाला उपदेशक कैसा होना चाहिए? इस सम्बन्धमें यह सब वर्णन चल रहा है। वक्ता गुणनिधि होना चाहिए। जिसमें प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदिक गुण मौजूद हों, प्रतिकूल घटनाएँ आनेपर भी शान्त रह सके, दूसरा अपराध करे तो उसको क्षमा कर सके, घमंड रंचमात्र भी न हो; माया, लोभसे भी ग्रस्त न हुआ हो, ऐसे अनेक गुणोंका निधि वक्ता होना चाहिए। अहंकार किस बातका? जो कुछ विद्या पायी है यह विद्या आत्माके उत्कृष्ट ज्ञान प्रकाशके सामने न कुछ चीज है। केवलज्ञान जिससे तीन लोक, तीनकाल का समस्त परिज्ञान होता है, उस ज्ञानके समक्ष हम आपने व बडे विद्वानोंने भी जो विद्या पायी है वह न कुछ जैसी चीज है।

छद्मस्थोंके विद्याकी अपूर्णता— एक कोई नया छात्र बी० ए० पास करके खुशीमें समुद्रकी सैर करने चला। समुद्रके किनारे पहुंचकर नाविकसे बोला— ऐ नाविक! हमें समुद्रकी सैर करा दे। नाविक बोला— भाई एक रुपया लगेगा। हां हां एक रुपया ले लो। बैठ गया वह नावमें। समुद्रमें थोड़ी दूर जब नाव निकल गयी तो वह छात्र बोला कि तू कुछ पढ़ा लिखा है? तो नाविक बोला— ना भाई, हम कुछ भी पढे लिखे नहीं हैं। तो तू ए, बी, सी डी भी नहीं जानता? ना भाई। तो तू अ आ इ ई भी हिन्दीकी

नहीं जानता ? ना भाई ? तेरा बाप कुछ पढ़ना जानता है ? ना भाई। उसने नालायक बेवकूफ आदि गालियां दीं और कहा कि ऐसे ही लोगोंने तो इस भारत देशको बरबाद कर रक्खा है। वह बेचारा नाविक कुछ पढ़ा लिखा तो था नहीं, सो सब सुनता गया। समुद्रमें जब तीन चार फर्लांग नाव निकल गयी तो एक ऐसी लहर उठी कि नाव डगमगाने लगी। तो नाविक बोला कि नाव अब नहीं बच सकती। हम तो तैर कर पार कर जायेंगे तो वह बी० ए० बालक बोला कि मुझे किसी तरहसे पार कर दो ताकि मेरी जान बच जाय। तो नाविक बोला कि क्या तू तैरना भी नहीं जानता ? बोला— हां नहीं जानते। तेरा बाप तैरना जानता है ? बाप भी तैरना नहीं जानता है। तो नालायक बेवकूफ आदि वही गालियां उसने भी दीं, जो बी० ए० बालकने दी थीं और कहा कि ऐसे ही लोगोंने तो भारतदेश को बरबाद कर रक्खा है। अरे कौनसी विद्या ऐसी है जो परिपूर्ण कही जा सकती है ? कोई भी तो यहां ऐसी विद्या नहीं है। कौनसा ज्ञान हम आपने पाया है, जिस पर अभिमान किया जाय। यथार्थ वक्ता वही होता है जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदिसे परे रहे। अर्थात् वक्ता गुणोंका निधान होना चाहिए। गुणहीन पुरुषमें नायकपनेकी शोभा नहीं रहती है।

स्पष्टमिष्टाक्षरता— अब वक्ताका अन्तिम लक्षण कहा जा रहा है कि वक्ता स्पष्ट और मिष्ट अक्षरोंका बोलने वाला हो। जो अर्द्ध चौथाई वचनोंको खा-खा कर बोले, कुछ समझमें आये, कुछ न आए, या ऐसा विचित्र बोले कि श्रोताजन कुछ ग्रहण ही न कर सकें—ऐसी बात एक योग्य वक्तामें नहीं होती है। वक्ता स्पष्ट और मिष्ट अक्षरोंका बोलने वाला होना चाहिए। यों तो शास्त्रप्रवचनमें श्रोतागणोंका अधिकसे अधिक गाली दे देने का अवसर रहता है, तुम मोही हो, मूर्ख हो, अविवेकी हो, अपने आत्माको नहीं जानते हो। संसारमें रुलते हो, बड़े कषायवान् हो, इस तरह तो नरक में जावोगे, दसों बातें बोली जा सकती हैं, आखिर बातें ठीक ही तो हैं, पर ऐसी बात बोलनेका क्या प्रयोजन है, और श्रोतागण उससे क्या लाभ उठायेंगे ? अरे वही बात सम्बोध करके भी बोली जा सकती है। जो अनिष्ट अक्षरोंमें उपदेश होता है। उसका प्रभाव श्रोताजनों पर नहीं होता है। हित मित प्रिय वचन ही श्रोतावोंपर प्रभावक हो सकते हैं। इस कारण मिष्ट अक्षरोंका बोलने वाला वक्ता हो।

वक्तावोंकी श्रेष्ठता— ऐसे इन तेरह गुणों करिके संयुक्त वक्ता हुआ करता है। ऐसा गुण उत्कृष्टरूपमें जहां मिल सके, वह तो उत्कृष्ट वक्ता है, प्रभु अरहंत परमात्मा सकल परमात्मा, जिसकी दिव्यध्वनि खिरती है और

जिसके उपदेशकी परम्परा चलती है उन भगवान् सर्वज्ञदेवको वक्ता नहीं कहा। वह तो हम आप सबके ईश्वर हैं, वह तो हम सबके शरण हैं और आधार हैं। वक्ताका पद गणधरदेव से शुरू होता है। गणधर देव जो गणको धारण करें, गणके अधिपति हों, ईश हों, ऐसे गणेश उत्कृष्ट वक्ता होते हैं। और विद्याके अधिपतित्वके प्रसंगमें प्रथम गणेशका स्मरण होता है। गणेश अर्थात् साधुसतजनोंके ईश स्वामी गणधरदेव। ये मनःपर्ययज्ञानके धारी हैं, अवधिज्ञानसे बहुत कुछ दूरकी और बहुत कुछ भूत और भविष्यकी बातें जानते हैं, और दूसरेके मन को, विचारोंको स्पष्ट जानते हैं। इतना विशिष्ट ज्ञान गणधरदेवके होता है। तो उत्कृष्ट वक्ता हुए गणधर, उसके बाद आचार्य और उसके बाद साधु, उसके बाद उत्कृष्ट श्रावक, मध्यम श्रावक सम्यग्दृष्टि जन—ये सभी वक्ता हो सकते हैं। ये गुण सभी उत्कृष्टरूपसे पाये जायें यह असम्भव है, किन्तु इन गुणोंकी किसी न किसी रूपमें झलक रहे तो वह वक्ता यथार्थ वक्ता हो सकता है।

योग्य वक्ताके सान्निध्यमें श्रोतावों पर श्रोतावोंकी योग्यताका प्रभाव— यों इस आत्मानुशासन ग्रन्थके वक्तव्यसे पहिले भूमिकारूपमें वक्ताके गुण बताये गए हैं। इन गुणोंसे युक्त कोई वक्ता श्रोताजनोंको मिल जाय तो उन श्रोताओंको उस वक्तामें विशेष श्रद्धान होता है और तब श्रोताजन विशेष लाभ लेते हैं। एक बात और जाननेकी यह है कि जितना भी असर पड़ता है वह श्रोतावोंके अपने विशुद्ध आशयका असर पड़ता है। वक्ता गुणी भी हो, लेकिन जब तक श्रोताके हृदयमें यह बात नहीं समायी है कि यह वक्ता गुणी है, सदाचारी है, समर्थ है, और स्वयं आत्मकल्याणमें प्रगति कर रहा है, इतनी बात श्रोताके मनमें न समायी हो तो श्रोतापर कोई असर नहीं पड़ सकता। तो उस असरका कारण श्रोताजनोंकी स्वयंकी योग्यता है और यह सब योग्यता गुण वाले वक्ताके सामने रहनेसे प्रकट होती है। यों वक्ताके ये तेरह गुण बताये गए हैं। इसके बाद भी कुछ और योग्यता वक्ताकी बतायी जायगी। किसे शास्त्र कहनेका अधिकार है— यह उसमें स्पष्ट झलकेगा।

श्रुतमविकल शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,
परिणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा,
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ॥६॥

उपदेष्टाके श्रुतकी अविकलता— पूर्व छन्दमें वक्ताके गुण बताये गए थे कि वक्तामें क्या गुण होने चाहियें? अब इस श्लोकमें यह बताया जा रहा

है उसही उपसंहार रूपमें कि कैसा वक्ता शास्त्र कहनेका अधिकारी होता है। उपदेशदाता गुरु इतने गुणसम्पन्न हो— (१) जिनका अविकल श्रुत हो, शास्त्रका रहस्य और अर्थ स्पष्ट झलकता हो, किसी भी एक विद्यामें पूर्ण निपुणता न हो तो उसे अधिकारी नहीं कहा जा सकता। जैसे गाना किसे नहीं आता। सभी अपनी खटिया पर पडे-पडे कुछ न कुछ गुनगुनाया करते हैं। जब अपने आप गाना गाते हैं तो पता नहीं पड़ता कि हम बेसुरा गा रहे हैं। अपना गीत कहनेका ढंग बहुत क्रमिक मालूम होता है। पर गायन सुनने वाले दूसरे लोग कहो उसका गायन सुनकर बेचैन हो रहे हों। जब सुरीला गाना नहीं होता है, राग भी अटपट होती है तो सुनने वाले लोगोंके चित्तमें कुछ चोट लगती है। कैसा यह बेसुरीला बेढंगा गा रहा है, पर वह अपनेको एक चतुर गायक समझता है, लेकिन उसे गानेका अधिकार नहीं है जब तक गानेकी सब रीतियोंको न जाने।

प्रतिभायुक्त वैद्यका दृष्टान्त— यों तो दवा बताने वाले वैद्य घर-घर हैं। कोई सा भी वैद्य हो, पर जितने बैठे होंगे वे सब दवा बता देंगे। लेकिन जिसका उस विषयमे अविचल प्रवेश नहीं है उसको अधिकार नहीं है। एक वैद्यराजके साथ नौकर रहता था। वह जहा रोगियोंको देखने जाय वहा वह नौकर भी जाता था। वैद्यने एक रोगी की नाड़ी देखी और कुछ नीचे निगाह की, खाटके नीचे देखा तो भटाके छिलके पडे थे। वैद्य बोला, तुम्हें अजीर्ण हो गया है। कुछ जी मिचलाता है? हा साहब। कुछ पेटमे ऐंठन सी होती है? हां साहब। दो चार बातें ऐसी हैं जनरल कि नाड़ी पकड़कर कोई भी कह दे। तो तुमने भटा खाया है इससे अजीर्ण हो गया है। नौकर वैद्यराजकी सारी क्रियाएँ देख रहा था। नौकरने सोचा कि अब हम स्वतत्र वैद्य बनेंगे। थोड़ा और कुछ अच्छा अभ्यास बनालें। वैद्यराजके साथ एक दिन वह दूसरे गांव जा रहा था। रास्तेमें एक ऊँट वाला मिला। ऊँटने पूरा कद्दुवा खा लिया था, वह गलेमें अटक गया था, सो बड़ा बेचैन हो रहा था। वैद्यसे ऊँट वालेने प्रार्थना की कि हमारा ऊँट अच्छा कर दो। वैद्यराजने क्या किया कि ऊँटको लिटा दिया और दो पत्थर मगाये। एक पत्थर गर्दन के नीचे रक्खा और एक पत्थरसे, ऊपरसे धीरे से चोट दी। कद्दू फूट गया, ऊंट उसे निगल गया और चगा हो गया।

अप्रतिभ नकलची वैद्यकी विडम्बना— नौकर सोचता है कि अब हम खूब अभ्यस्त हो गए। हमने वैद्यराज की सब कलायें जान लीं। ऐसा सोच कर वह खुद स्वतत्र वैद्य बन गया। एक जगह एक रोगीको देखने गया। नाड़ी पकड़ कर कहता है कि तुम्हें अजीर्ण हो गया है। खाटके नीचे देखा

तो घोडेका पलीचा पड़ा था। सो कहता है कि तुमने घोड़ा खा लिया है इससे अजीर्ण हो गया है। खैर, वहासे ठुक पिटकर दूसरी जगह पहुचा। किसी गांवमे एक बुढ़िया बीमार थी, सो घर वालोंने कहा– वैद्य जी हमारी मां को देख लीजिए बीमार है। हां हां देख लेंगे। देखकर कहता है कि दो पत्थर मंगावो। आ गए पत्थर। एक पत्थर बुढ़ियाके गर्दनके नीचे रक्खा और एक पत्थर ऊपरसे बुढियाके गलेमे मारा। बुढ़िया तो स्वर्ग सिधार गयी। लोग लड़ने लग गये तो ठुके पिटे वैद्यराज बोले कि ऊटका रोग इसी तरह दूर हुआ था। तो जिस विषयमे अधिकार नही है, उस विषयमें हम अपना प्रवेश करें तो उसमें सफलता नही होती है। यो ही हो तो गावमे घर-घर सभी वैद्यराज न बन जाय।

अविकल ज्ञानमें उपदेशका अधिकार—जिसका जिसमें अविचलप्रवेश नहीं है वह उसका अधिकारी नहीं होता है। यों ही जानो कि जिसका ज्ञानमे अविचल प्रवेश नहीं है वह शास्त्रका अधिकारी नहीं होता है। ये सब बातें उत्कृष्ट रूपकी बतायी जा रही हैं। यहां यह अर्थ न लेना कि यदि हमें उत्कृष्ट वक्ता न मिले तो हम साधारण वक्तासे भी न सुनें। हां, एक बात और है, जितने भी गुण वक्ताके बताए गए है वे सब गुण कुछ न कुछ हद तक होने ही चाहियें तब वह शास्त्रका अधिकारी होता है।

उपदेष्टाका शुद्ध आचरण— शास्त्रका अधिकारी वह पुरुष है जिसकी वृत्ति शुद्ध रहती है। खानपानका पापोंसे दूर रहनेका जिसका शुद्ध आचरण है वह शास्त्र बांचनेका अधिकारी कहा जाता है। जिसके दुराचार प्रकट हो उस वक्ता के प्रति श्रोता तो मनमें यह सोचेंगे कि देखो ऐसी घटना हो रही है जैसे बिल्ली चूहा मारकर हज्ज करने जाय। खुद तो दुराचारसे रहते हैं और शास्त्र-गद्दीपर बैठे-बैठे बड़ी-बडी बातें बखानते हैं। श्रोताजन वहां दोषोंको ही ग्रहण करेंगे, गुण ग्रहण न कर पायेगे। शास्त्रका अधिकारी वह पुरुष है जिसकी वृत्ति स्वयं शुद्ध हो। मनकी प्रवृत्ति निर्दोष हो, सबके सुखकी भावना हो, किसी जीवके प्रति ईर्ष्याका परिणाम न हो। जो मनुष्य सब जीवोंके सुखकी भावना करेगा वह स्वयं सुखी हो सकता है। दूसरोंको दुःख उत्पन्न हो—ऐसी भावनामें यह प्रथम ही दुःखी हो गया। यदि यह दुःखी न हो तो दूसरे के प्रति दुःखी होनेकी भावना नहीं जगती। दूसरेको सुखी होनेकी भावना करो तो स्वयंमे भी बड़ी प्रसन्नता रहती है। वचन भी निर्दोष होना चाहिए, छल कपटसे रहित, दोहरे तिहरे गुप्त अर्थसे रहित साफ स्पष्ट वचन हों, शरीरसे भी चेष्टा पापरहित होनी चाहिए। यों मन, वचन, काय की प्रवृत्ति जिसकी शुद्ध हो, वही पुरुष उपदेश देनेका अधिकारी है।

उपदेष्टाका परप्रतिबोधन परिणाम— तीसरी बात कह रहे हैं कि दूसरे जीवके प्रतिबोधनमें जिसका परिणाम लगता हो, वही उपदेशदाता योग्य है। जिसके चित्तमें दूसरेको समझानेका परिणाम नहीं है वह न जाने किस-किस प्रयोजनसे भाषण करता रहता है। मेरी आजीविका ठीक रहे, लोकमें मेरी प्रतिष्ठा हो या लोग मुझे बड़ा समझें, यह उसका प्रयोजन रहता है। जिस उपदेष्टाके परके समझानेका परिणाम है, वही यथार्थ उपदेश कर सकता है। इस ज्ञानी संतने अपने आपमें हितकी बात समझी और यह बड़ा सुगम है, स्वाधीन है, स्वयंके स्वरूपरूप है इतना स्वाधीन उपाय ये जगत्के जीव नहीं कर पा रहे हैं, इससे ये दुःखी हैं। अपनी दृष्टि ये संभाल लें—ऐसी जिसके करुणा जगी है वही पुरुष उपदेष्टा कहला सकता है। कोई पुरुष किसी पर दबाव डाले, धर्म करो, नियम करो, तो ये धर्म और नियम जबरदस्तीसे नहीं होते हैं। स्वयंकी आत्मामें ज्ञानका प्रकाश जगे तो यह प्रेरणा करनेकी भी जरूरत नहीं है कि तुम नियम करो, यों चलो। उपदेष्टा का यह यत्न होता है कि यह हेय और उपादेय वस्तुस्वरूपको जान जाय। केवल परके प्रतिबोधनमें ही इसके परिणाम जगा है।

उपदेष्टाका सन्मार्गप्रवर्तनमें उद्यम— उपदेष्टामें यह भी विशेषता है कि वह सन्मार्गकी प्रवृत्ति करनेमें बड़ा उद्यम रखता है। जगत्के जीव, मनुष्यजन यथार्थ मार्गको समझ जायें, इस मार्गका प्रसार हो, लोग जानें तो उनका भला होगा, ऐसा ध्यान रखकर सन्मार्गके प्रसारमें उनका बड़ा उद्योग होता है। यहां एक यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि ज्ञानी पुरुष हठपूर्वक धर्मप्रसार नहीं करता, किन्तु ज्ञानी पुरुषमें ऐसी योग्यता है कि उसके तनिक से यत्नसे लोगोंका महान् उपकार हो जाता है। दूसरे लोग समझते हैं कि यह पुरुष परका उपकार करनेमें अपनी कमर कसकर उतरा है, पर वहां बात ऐसी नहीं है। जिस मनुष्यके निजके उपकारकी प्रबल भावना नहीं होती वह परके उपकारमें भी सफल नहीं हो सकता है, ज्ञानीके तनिक यत्नमें लोगोंका उपकार होता है। हठी पुरुष कमर कसकर परोपकारके लिए उतरता है, किन्तु उससे यथार्थमें उपकार नहीं हो पाता। खैर, उपदेष्टाकी यह विशेषता है कि वह यथार्थ मार्गके परिहारमें अपना श्रम करता है।

उपदेष्टाकी उत्कृष्ट प्रकृति— उपदेष्टा पुरुष उच्च पुरुष होता है। बड़े बड़े ज्ञानीजन भी उनको नमस्कार करते हैं और यह उपदेष्टा अपनेसे अधिक ज्ञानियोंको नमस्कार और उनका विनय करता है। जहां यह दूसरें का वंदन स्वीकार करता है वहां इसमें ऐसी योग्यता है कि अपनेसे अधिक ज्ञानी संत-पुरुषका यह वंदन करता है। शास्त्र-प्रतिपादनका अधिकारी

उपदेष्टा किस क्रियामें रहता है ? उसका यह वर्णन चल रहा है।

उपदेष्टाकी निरभिमानता— उपदेष्टा अभिमानसे रहित होता है, इसमें उद्धतपना नहीं होता है। वह समझता है कि कोई हम अपनी बात नहीं कह रहे हैं। यह तो महावीर स्वामीकी परम्परासे अथवा अनेक तीर्थंकरोंकी परम्परासे जो चला आया हुआ सन्मार्ग है उसकी बात कह रहे हैं। घमंड किस बातका ? यह समस्त तत्त्व तो प्रभुने बताया है, हम तो प्रसार करने वाले मानों एक मुंशीकी तरह हैं। कोई अभिमान करने योग्य हममें कला नहीं है। किस बातका अभिमान हो—ऐसी प्रतीति योग्य उपदेष्टामें रहती है। अतः वह उद्धतपनासे रहित होता है।

लोकज्ञता— यह उपदेष्टा लोकरीति का भी ज्ञाता होता है। देशमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लोकरीति होती है। उस लोकरीतिसे अनभिज्ञ हो और कोई बातमें लोकरीतिसे बिल्कुल खिलाफ आए तो वह शान्तिका कारण नहीं बनता। योग्य उपदेष्टा लोकरीतिका ज्ञाता होता है। ज्ञानी पुरुषमें इतनी योग्यता होती है कि वह पुरुषका हृदय क्षणभरमें एक दृष्टिसे पहिचान लेता है। उसे इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वह दूसरेके हृदयकी बात बतलाये। किन्तु अभिज्ञता उसे हो जाती है और परख कर लेता है कि अमुक व्यक्ति इस आशयका है, अमुक इस प्रकृतिका है। दोष भी सब ज्ञात हो जाते हैं, किन्तु वह उदासीन रहता है। इस कारण लोकचर्यामें नहीं पड़ता। उसे लोकरीति व लोकनीतिके विषयोंका परिज्ञान होता है।

मृदुता— योग्य वक्ता मृदु होता है। उसका हृदय कोमल, उसकी वाणी कोमल। भैया ! लोगोंका सुधार डाट-डपटसे नहीं होता। जैसे ऊधम करने वाले बालकको डाट-डपटकर नहीं मनाया जा सकता। उसे तो धीरेसे समझाया जाय, अरे तू तो राजा है, बड़ा भोला है, राजा लोग ऊधम नहीं मचाया करते। इस प्रकार समझाने से वह ऊधम मचाना छोड़ देगा। ऐसे ही संसारके प्राणी रागद्वेष मोहके वशीभूत होकर अनेक पापकर्मोंमें लगे हुए हैं। जीवोंको हिंसक, दगाबाज, चोर आदि शब्दोंसे बोल-बोलकर इनका दुराचरण छुटाना चाहें वह अशक्य है, किन्तु तुम प्रभुतास्वरूप हो, तुम ज्ञानानन्दरूप हो, तुममें बड़ी ज्ञानकला है, बडे बुद्धिमान् हो, श्रेष्ठ मन पाया है, सभी योग्यताएँ तो तुममें मौजूद हैं— ऐसी उसकी शक्ति बताकर फिर उस से कहा जाय कि भाई इतनी बात और छूट जाय तो तुम्हारे उत्कर्षका फिर क्या ठिकाना है ? यह छोड़ सकेगा। उपदेष्टामें मृदुताकी विशेषता होती है।

मृदुताका दृष्टान्त— कोई मनुष्य तो सुपारी की तरह होते हैं। जैसे सुपारी भीतरमें कड़ी और ऊपर भी कड़ी होती है। कोई मनुष्य बेरकी तरह

हैं-होते भीतरमें तो कड़े और ऊपरसे कोमल। कोई मनुष्य नारियलकी तरह होते हैं— ऊपरमें तो कड़े और भीतरमें कोमल, मिष्ट, रसीले। कोई मनुष्य दाखकी तरह होते हैं। भीतर भी कोमल और ऊपर भी कोमल होते हैं। योग्य उपदेष्टा वह है जो दाखकी तरह अंतरंगमें भी कोमल है और ऊपरके व्यवहारमें भी कोमल है। उपदेष्टाकी यह महती विशेषता है।

निःस्पृहता— उपदेष्टा वाञ्छासे रहित होता है। किसी भी साधनके विषयोंकी वाञ्छा हो तो वह उपदेष्टा योग्य उपदेश देनेमें असमर्थ होता है। बात कुछ भी की जाय, आखिर वह अपने प्रयोजन पर आयेगा। इस विषयमें पहिले वक्ताके गुण बताये गए थे, वहां बहुत कुछ प्रतिपादन हो गया है, फिर भी उपदेष्टाके गुण उपदेष्टारूपसे बताये जा रहे हैं। वह वाञ्छारहित होता है। किसी भी सांसारिक कुतत्त्वकी इच्छा न हो—ऐसे इन गुणों करिके सहित उपदेष्टा अधिकारी होता है। ये सब यतीश्वरके गुण हैं। ये गुण साधु सतोंमें पाये जाते हैं। फिर भी इन गुणोंके माफिक कुछ भी विकास हो श्रावकजनोंमें तो वे भी शास्त्र बांचनेके अधिकारी हैं। आदेश देना बहुत ऊँचा काम है, उपदेश देना उससे कुछ छोटा, किन्तु औरोंसे ऊँचा काम है, बाकी तो शास्त्र वांचना कहो। उपदेश देनेका अधिकारी तो ऐसा पुरुष होता है जिसका इस छदमें वर्णन किया है, बाकी तो मिल जुलकर तुम शास्त्र पढ़ो, हम सुने, कुछ अच्छी चर्चा आए सामने तो समय हितमें व्यतीत हो। उपदेश देनेका अधिकारी उच्च ही होगा।

उपदेष्टाकी प्राप्तिके लिये आचार्यदेवका आशीर्वाद व खोटे उपदेष्टासे हानिका वर्णन— ये यतीश्वरके गुण जिस पुरुषमें पाये जायें, ऐसा उपदेशदाता गुरु ही सत्पुरुषोंका, हम लोगोंका हो। यहां आचार्यदेव उपदेष्टाकी अधिकारिता को बताकर श्रोतावोंको आशीर्वाद दे रहे हैं कि ऐसे योग्य उपदेश देने वाले गुरु भव्योंको प्राप्त होओ, कुधर्मके उपदेशसे धर्म काहूको मत हो। कोई पापभरी बात शास्त्रमें लिख जाये, ऐसा लेखक विद्वान् पापकर्म करने वालोंसे भी कई गुणा पापी है। कोई पाप करता है तो उसने अपना व्यक्तिगत बुरा किया है, किन्तु जो अपने साहित्यमें, अपनी कलाके बलसे पापकी बातको धर्मरूपमें शामिल करके शास्त्रमें लिख जाता है वह तो अनेक लोगोंका होनहार बिगाड़ता है। उसे महापापी कहा गया है। ऐसी ही उपदेश देने वालेकी बात है। उपदेश देने वाला यदि कुधर्मका पोषण करने वाला उपदेश दे तो वह उपदेष्टा महापातकी है। ऐसा उपदेष्टा किसीको मत मिलो। जो अहितकारी बुरी चीज है उसके लिए लोग कहते हैं कि दुश्मनको भी ऐसी बात न होओ। उपदेष्टा उत्तम ही सबको प्राप्त

होओ। कुमार्गको ले जाय—ऐसा उपदेष्टा किसीको मत मिलो।

उपदेष्टाके गुणोंका उपसहार— गुरु वह है, जो गुणोंमे वजनदार हो। गुरु नाम वजनदारका है। यह चीज गुरु है, वहुत वजनी है। गुरु पुरुष वही हो सकता है जिसमे गुणोंका अधिकाधिक विकास हो। जो गुणोंसे भरपूर हो वह ही गुरु हो सकता है। जो गुरु हो, वही उपदेष्टा हो सकता है। उपदेष्टा दूसरो को भी भला उपदेश देकर दूसरोंका भला करता है और उस उपदेश देनेके माध्यमसे खुदका भी भला करता है, स्वय भी पापोसे वचता रहता है और दूसरे जीवोको भी पापों से बचाता रहता है। ऐसा यह धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय एक वड़ा तप वताया गया है। ज्ञानके विकासका नाम भी एक तप है क्योंकि जीवका उद्धार इस ज्ञान विकासके माध्यमसे ही सम्भव है अन्य प्रकार नहीं है। अत जो ज्ञान दान देता है, जो उपदेश देता है उसे उत्तमदानी कहा है। सो वह केवल दूसरोका ही भला नही करता किन्तु खुदको भी एक सदाचारके मार्गमे लगाये रहता है। इस प्रकार वक्ता और उपदेष्टा के गुण बताये गए हैं। अब श्रोतामे क्या गुण होना चाहियें, शिष्य भी कैसा होना चाहिए? इस सम्बन्धमे अगले छदमें कहेंगे।

> भव्य किं कुशल ममेति विमृशन् दुःखाद्भृशं भीतिमान्।
> सौख्येषी श्रवणादिबुद्धिविभव· श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।
> धर्मं शर्मकर दयागुणमय युक्त्यागमाभ्या स्थितम्।
> शृण्वन् धर्मकथा श्रुतावधिकृत शास्त्रो निरस्ताग्रह·॥७॥

भव्यता— श्रोता कैसा होना चाहिए? जो उपदेशका लाभ उठा सकता है। इस सम्बन्धमें आज इस छदमे वर्णन है। प्रथम तो भव्य होना चाहिए, जिसका होनहार मंगलमय हो, भला हो, ऐसा भव्य पुरुष होना चाहिए। इस सम्बन्धमे तो हम आपके कोई वशकी वात नहीं बतायी गयी है। जिसका होनहार अच्छा होनेको है वही श्रोता उपदेशका लाभ उठा सकता है--ऐसा कहनेमे आप क्या शिक्षा लेंगे? कोई करने की वात तो न वतायी, होनहार भला हो, वह श्रोता कल्याणका अधिकारी है। यह ज्ञानी सत पुरुषकी दृष्टिसे कहा गया है। लोग कह देते हैं कि जिसका होनहार ही खोटा है, उसका धर्म में चित्त कैसे लगे? उससे यह वात जाहिर होती है कि वर्तमान नीतिकी योग्यता इसके ठीक नहीं है, तव धर्ममें कैसे लगे? वर्तमान वातो से भवितव्यता का अनुमान किया जा सकता है। श्रोता भव्य हो।

हितचिन्तना— श्रोताकी विशेपता वतायी जा रही है। श्रोताका यह चिन्तन हो, ध्यान हो कि मेरा हितरूप कर्तव्य क्या है? मेरी कुशलता किसमे है—ऐसा जो अपना विचार रखते हो वे श्रोता उपदेशसे लाभ ले

सकते हैं। कोई इस दृष्टिसे शास्त्र सुने कि देखें तो सही कि यह वक्ता क्या बोलता है, किस ढगका इसमें ज्ञान है? जैसे कोई चक्षुरिन्द्रियकी तफरी करता हो, कर्णेन्द्रियकी तफरी करता हो, इतना ही मात्र लक्ष्य हो तो भला उस उपदेशसे लाभ तो नहीं मिल सकता है। अथवा जिसका यही परिणाम हो कि देखो कोई गलती यह बोल जायें, बस हम इनकी गलती पकड़ करके रोक देंगे और इनके मुकाबले हम अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायेंगे, ऐसा परिणाम रख कर जो प्रवचन शास्त्रको सुनने वाला है, वह उपदेशका लाभ तो नहीं ले सकता है।

हितप्रयोगकी उत्सुकता— जिसके चित्तमें यह परिणाम हो कि मेरा कुशल, मेरा हित किस तरह हो, ऐसा जो ध्यान और उद्देश्य रखकर सुनने आया हो वह अपनी चित्तवृत्तिको इतना नम्र और शिक्षाग्राहिताको ऐसी प्रकृतिका बनायेगा कि उस उपदेशको उसही काल उतारनेकी कोशिश करेगा। जैसे उपदेशमें चल रहा हो कि परपदार्थ तो पर ही हैं, उनका विकल्प न करना चाहिए तो यह अतरगमें उस ही समय जिस समय सुन रहा हो उसको प्रायोगिकरूप अतरङ्गमें देने को उत्सुक रहेगा और वह सर्वविकल्प तोड़नेका अभ्यास करेगा। जैसे एन सी. सी. की शिक्षामें कमाण्डर जो शब्द बोलता है उसका पालन वे सभी शिक्षार्थी तुरन्त करते हैं। केवल उनका इतना ही ध्यान है कि हमारा यह कमाण्डर क्या बोलता है, तुरन्त ही उसका पालन करना, आराम करनेको कहे तो टेढा पैर करके आराम लेना, सावधानको कहे तो दोनों पैर सामने रखकर सावधान हो जाना, लेफ्ट टर्न कहे तो बाई ओर मुड़ जाना, राइट टर्न कहे तो दाई ओर मुड़ जाना— यह सब सुननेकी प्रतीक्षा वे शिक्षार्थी करते हैं, पालन तुरन्त करना चाहते हैं और करते हैं। ऐसे ही कल्याणार्थी श्रोताजन इस बातके लिए उत्सुक रहते हैं कि जो बात शास्त्रमें उपदेशमें कही जाय उसका मैं इस ही समय पालन करके तो देखूँ।

श्रवणकालमें भी सत् श्रोताका अनुभव यत्न— भव्य श्रोताके यह तैयारी रहती है कि मुझे हितप्रयोग करनेमें लम्बा टाइम का अन्तर नहीं बनाना है। जो बात शास्त्रमें कही जाती है उसके विशद परिज्ञानके माफिक अपना आचरण, उपयोग, परिणमन बनाने पर होता है। जब जैसे कहा जाय—इस आत्माके ध्यानमें निरुपम आनन्द है। जहा ज्ञानप्रकाशका ही दर्शन अनुभव चलता है वहा ही शुद्ध आनन्द प्रकट होता है। तो यह देहका विकल्प त्यागकर सुन तो रहा है कानसे अवश्य, पर अनुभवमें उतारनेका नहीं यत्न कर रहा है। भैया! इसही यत्नमें किसी क्षण आत्माकी झलक आये व उपदेशके एक दो शब्द सुनने में भी नहीं आ सकें, न आने दो, किन्तु जो

उपदेशमें वक्तव्य है उसका पालन और अनुभव तो श्रोताने किया है। जैसे पूजन करते समयमें प्रभुके उस शुद्ध ज्ञानपुञ्ज स्वरूपपर दृष्टि देने से और उस ही समान अपने स्वभावका निरखना होने पर कदाचित् ध्यान इतना विशुद्ध हो जाय कि चढ़ाना भूल जाय, अक्षतकी जगह पर नैवेद्य चढ़ा दे तो हो जाने दो भूल, विकल्प मत करो। पूजाका जो प्रयोजन है स्वरूप झलक वह तो पा लिया है। यों ही शास्त्रके श्रवणके मध्य कदाचित् वक्ताके आदेशके अनुसार अपना अंतरङ्ग उपयोग बनाने पर और उस अनुभवका यत्न करने पर कभी दो चार शब्द सुने बिना भी रह जाय तो कोई हर्ज नहीं। उपयोग यदि आदेश पालनमें लगा है तो ठीक है। शास्त्रश्रवणका लाभ तो उसने पा ही लिया है। इतनी बड़ी उत्सुकताके साथ और अपनी कल्याणभावनाके सहित जो श्रोता शास्त्रश्रवण करता है, वह ही वास्तविक श्रोता है।

हिताहितविचारकता— भैया ! इतना कष्ट करके तो श्रोता घर छोड़ कर आया है, आध पौन घंटेका समय इसने लगाया है, आखिर कुछ श्रम तो किया, कुछ त्याग तो किया। यह त्याग और श्रम उसका सफल होगा जो अपने हितकी वाञ्छा रखकर श्रम करता हो। एक हितभावनासे दूर होकर कुछ भी विचार चित्तमें लेकर यह उद्यम करे तो दोनों ओरसे गया, घर भी छोड़ा, श्रम भी किया, विकल्प भी बनाया, पापका बंध भी किया। ऐसे श्रोताने कुछ भी तो हितकी बात नहीं पायी। जो श्रोता अपने हित और अहितका विचार रखता है वह है हिताभिलाषी श्रोता।

संसार संकटभय— योग्य श्रोता दुःखसे निरन्तर भयशील रहते हैं। कैसे दुःखसे ? घर छोड़कर मनको संभाल कर बैठने के दुःखकी बात नहीं, किन्तु संसारमें जो सर्वत्र दुःखके पहाड़ छाये हुए हैं, उन दुःखोंसे जो डरता है वही श्रोता वास्तविक श्रोता है। इस संसारमें कहां सुख है ? जो भी यह जीव कल्पना करता है और परजीव, पर सम्पदाकी ओर आकर्षित होता है वह दुःखी ही होता है, क्लेश ही पाता है, अपना आत्मबल समाप्त कर देता है। उसे संतोष और आनन्द नहीं होता है।

संसारमें दुःखका साम्राज्य— संसारमें कहां सुख है ? बाह्य चीजोंमें कुछ भी कल्पना करके तो बतावो स्त्री, पुत्र, परिजनमें कोई सुख है क्या ? घरमें रहने वाले सभी जानते होंगे कि कितना कष्ट और कितनी विडम्बनायें भोगनी पड़ती हैं। रूपमात्र तो कल्पनाका सुख है, पर जीवन भर बोझ ढोना पड़ता है। कहां सुख है ? क्या धन सम्पदामें सुख है ? धन सम्पदा पाकर प्रथम तो अपना हृदय ठिकाना रखना यह कठिन बात है और फिर कितने

इसके वैरी हो जाते हैं, जो धन खींचने की कोशिश करते हैं वे ही इसके वैरी हैं। सरकार, बधुजन, चोर डाकू और छली कपटी लोग ये सब धनकी ओर आंख लगाये रहते हैं। अनेक रक्षाके प्रयत्न करने पर भी कदाचित् यह रक्षित नहीं रहता है और फिर अन्तमे तो साराका सारा पूरा छोडकर सबको जाना ही होगा। कौनसा सुख सम्पदासे मिलता है ? जैसा परिणाम किया, इस जीवनमें जैसा कर्मबन्धन हुआ उसके अनुसार परभवमें भी समागम मिलेगा। ससारमें सर्वत्र दु ख ही दु ख है।

अशरणतापर एक दृष्टान्त— एक बार राजा भोजने विद्वानोंकी सभा में एक विद्वान् पडितसे एक समस्याकी पूर्तिके लिए कहा। अब यह नियम तो है नहीं कि पडितका बाप भी पडित हो, वकीलका बाप भी वकील हो, डाक्टरका बाप भी डाक्टर हो, कुछ ऐसा नियम तो नहीं है। उस विद्वान्का पिता पढा लिखा बिलकुल न था, उसीसे समस्या पूछी। इस समस्याकी पूर्ति करो—"क याम किं कुर्म हरिणशिशुरेव विलपति।" वह पिता तो कुछ जानता न था, सो पास बैठे हुए अपने बच्चेसे बोला अपनी देहाती भाषामें पुरा रे बापा। कहीं कहीं बापा पुत्रको बोलते हैं, देश-देशकी रीति है। उसका अर्थ यह है कि पूर्ति कर दे रे बेटा। विद्वान् बडा चतुर था। उसने उन्हीं शब्दोंसे शुरू करके छद बना दिया ताकि राजा भोजको यह पता न पड जाय कि इसका पिता मूर्ख है। राजा यह जानें कि इसने अपने बच्चे को इन शब्दोंसे शुरू करके पूर्ति करनेका सकेत किया है। वह छद बोलता है— "पुरा रेवापारे गिरिरतिदुरारोहशिखरे, गिरौ सव्येऽसव्ये दवदहनज्वाला-व्यतिकर। धनु पाणि पश्चान्मृगयुशतकं धावति भृश, क याम कि कुर्मः हरिणशिशुरेव विलपति।" उसने शब्द बोला था पुरा रे बापा। उसने उन्हीं शब्दोंको थोड़ा अगल बगल मिलाकर बोला है---'पुरा रेवापारे।' इस छद का अर्थ है कि एक हिरणका बच्चा जगलमें एक जगह खडा है, जिसके आगे रेवा नदी बह रही है और अगल बगल पहाड़मे भयकर आग लग रही है और पीछे १०० शिकारी हाथमें धनुष बाण लिए हुए हिरणके बच्चेको मारने दौड़ रहे हैं। उस समय हिरणका बच्चा कहता है कि मैं कहा जाऊँ, क्या करूँ, विलाप करता है। उस हिरणके बच्चेसे भी अधिक दयनीय दशा हम सब ससारी जीवोंकी है। कहां जायें, क्या करें, कोई मार्ग ही नहीं दिखता। क्या करे जिससे शान्ति मिले।

जन्तु जीवोंका असहायपना— यह मोही प्राणी दूसरोंसे स्नेह करता है यह भी शान्तिका उपाय नहीं है। कोई बड़ा व्यापार रोजगार धनसचय भी करता है वह भी शान्तिका उपाय नहीं है और कोई धर्मकार्यकी ओर

भी दृष्टि देता है तो वह भी वहा शान्ति नहीं पाता है, परिजन और धर्म परम्परामें आए हुए लोगोंका समूह भी ऐसा विचित्र मिलता है कि विकल्प शान्त होकर निर्विकल्प परमब्रह्मके वहा दर्शन नहीं पा सकते। कहा जाये, क्या करें, कैसे सुख हो, कोई मार्ग यहा नहीं सूझता है। कितना कठिन क्लेश है इस जगत्में। जन्में मरें, जन्मे मरें। इस लेफ्ट राइटसे ही फुरसत नहीं मिलती है। तो और की तो बात ही क्या करे ? जैसे एक बासकी पोल है, उसके बीचमें एक कीड़ा पड़ा है। दोनों छोर पर आग लगी है, अब वह कीडा क्या करे वह वहा कितना दुखी रहता है— ऐसे ही यह जतु किसी जगह पड़ा है ससारमे, जिसके और छोर पर जन्ममरणके दुख लगे हैं। यह जतु क्या करे बतलावो ? हम आप सब जतु हैं। लोग छोटे-छोटे कीडों को जंतु कहते हैं। अरे जतु नाम उसका है जो जन्म लेता रहता हो। जैसे ये कीडे मकौडे मरते रहते है, पैदा होते रहते हैं, तो उनके पैदा होते रहनेकी बान देखकर लोग उन्हें जतु कहते हैं। क्या हम आप ऐसी ही पैदा होते रहनेकी कुटेव नहीं रख रहे हैं ? हम आप भी उन्ही जतुवोंमे शामिल हैं। जब तक यह जीव जन्म पर विजय नहीं पाता तब तक यह जंतु ही है।

पापका फल क्लेश - भैया ! सर्वत्र दुख ही है। गतिया चार हैं --- नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। नरकके दुखका तो कहना ही क्या है ? सभी शास्त्र बताते हैं, किन्तु कुछ लोग सोचते हैं कि जो यहां है सो है नरक और स्वर्ग कहीं और जगह है। हमें आप यह बतावो कि कोई मनुष्य एक मनुष्यको मार डाले तो उसका न्याय क्या है ? फासी का हुक्म। और कोई मनुष्य सैकड़ो हजारों पशुवों और मनुष्योंको मारे तो उसका न्याय यहां क्या हो सकता है ? उसको तो इससे भी अनगिनतेगुना दड मिलेगा। उचित दड देना किसी राजाके वशकी बात नहीं है, उसे प्रकृति दड देती है। नरकादिक गतियोंमे जन्म लेकर वहा अनगिनते बार मरना पडता है। नारकी जीवोंके शरीरकी यह विशेषता है कि उनका शरीर छिन्न-भिन्न हो जाय, शरीरके टुकडे हो जायें तो भी पारेकी तरह वह शरीर फिर मिल जाता है, फिर दुःख भोगता है। यों अनगिनते बार छिन्न-भिन्न होकर फिर उसे कुटना पिसना पड़ता है, इतना विशेष दड उन नारकियोंको मिलता है। पुण्यका उदय है, सो मनुष्यको शक्ति मिली है। अब कोई क्रूरता से पशु पक्षियों पर छुरिया चला कर हिंसा करके अपना मन मौजमें करले किन्तु इसके फलसे वे बरी न हो सकेंगे।

अपने आचरणोंपर दृष्टिपात-- भैया ! कुछ अपने आपके आचरणों पर भी दृष्टि दो। हम आप एक उत्तम कुलमें पैदा हुए हैं, यहा मास खानेका

तो कोई प्रसग ही नहीं है, लेकिन जो जिस कुलमें उत्पन्न हुआ है उस कुलके योग्य वह आचरण न करे तो भी वह हीन दशामें माना जाता है। इस पवित्र कुलमें रात्रिभोजनका स्पष्ट निषेध है, जरा मनुस्मृति उठाकर देख लो, जैनसिद्धान्तके ग्रन्थोंको देख लो, रात्रिभोजनको मास तुल्य भोजन बताया है। अनुमान कर लो कि जहां सूर्यका प्रकाश ही नहीं है बिजली की कितनी ही रोशनिया कर ली जाएँ, पर वहा कीटाणुवोंका आवागमन बना ही रहता है। दूसरे बडी अधेरी रात्रिमें निशाचर डोलते हैं, उन निशाचरों का आवागमन भी चलता है। ऐसे समयमें भोजनका करना कहा योग्य हो सकता है। रात्रिभोजनमें हिंसाका दोष है। जिसे अपनी कुशलता चाहिए वह रात्रिभोजन छोड दे।

अव्रतियोंमें रात्रिभोजन-त्यागकी स्थिति— अव्रत अवस्थामे रहकर रात्रिभोजनका त्यागी वह कहलाता है जो जल और औषधिको छोड़कर समस्त वस्तुवोंका त्याग करे। यह अव्रती पुरुषोंकी बात कह रहे हैं। व्रती लोग तो जल और औषधिको भी रात्रिको नहीं ग्रहण करते हैं। देखो सबसे कठिन वेदना प्यास की होती है। भूखकी वेदना कठिन नहीं होती है। दिन में ही खाना खा लिया जाय तो रात्रिको भूखकी वेदना नहीं होती है। तो प्यासकी वेदनाको मिटानेके लिए जल रख लिया और कभी बीमार हुए तो उसके लिए औषधि रख ली। कौनसी इसमें दिक्कत है? लेकिन जब मन स्वच्छन्द है तब इसकी ओर दृष्टि नहीं जाती है और बल्कि जो धर्मकर्तव्य से रहें उनको यह ढोंगी है अथवा अन्य कुछ है—इस तरहकी दृष्टि करते हैं। पूर्वकालमें कितनी बड़ी प्रतिष्ठा थी जैनकी? जैन लोग पहिले ऐसे ही सदाचारके थे। आज भी जो रही सही शेष प्रतिष्ठा है यह पूर्व आचारोंका फल है।

आचारसे प्रतिष्ठा— पहिले समयमें ईमानदारी में, राजदरबारमें, न्यायालयमें जैन लोगोंकी प्रामाणिकता मानी जाती थी। जैनने जैसी गवाही दे दी उसही तरहका न्याय किया जाता था। खजान्ची होना जो बहुत बडे उत्तरदायित्वकी बात है। इतिहासमें देखनेसे मालूम होता है कि जैन लोग ही अधिकतर खजान्ची होते थे। आज भी जैन लोग अधिकतर खजान्ची पाये जाते हैं। अब यदि सदाचार विचारसे गिरकर प्रतिष्ठा खो दी तो इससे अपना भी अकल्याण किया और भावी पीढियोंका भी अकल्याण किया।

जैनोंके प्राथमिक तीन सदाचार— भैया! अपने जो तीन आचरण हैं—रात्रिभोजनका त्याग, जल छानकर पीना और देवदर्शन करना—ये तीन

बातें तो एक धर्ममार्गमें बढ़नेकी ही बातें हैं। आजकल लोग यह प्रश्न कर देते हैं कि जब हम नलका पानी पीने लगे तो उसे छाननेकी क्या जरूरत है, लेकिन नलका पानी भी छानकर यदि पिये तो उसमें श्रद्धा गुणकी विशेषता होती है। उसको अपने कर्तव्यकी स्मृति तो बनी हुई है। कई दिनोंका भरा हुआ नलीमें पानी है, उसमें छोटे-छोटे जीव जन्तु पड जाते हैं। देवदर्शन— हम अपने रात दिनके समयमे प्रभुकी जरा भी स्तुति न करें किसी भी क्षण, तो हमारा जीवन किस कामका है ? क्या विषयभोगके साधनोंमे रमकर हम अपना कल्याण कर सकते हैं ? हमारा कर्तव्य है कि हम रोज प्रभुका स्मरण करें। गृहस्थजन निरालम्ब रहकर अपने घर पर ही सोचलें कि हम प्रभुका स्मरण यहीं कर लेंगे, भले ही वे हठ करके चार छ दिन प्रभुके स्मरणकी बात करलें, पर कुछ दिन बाद वे सब बातें नष्ट हो जायेंगी। गृहस्थोंको अवलम्बन की आवश्यकता है और वह अवलम्बन है देवप्रतिमा। इसमें ही भक्ति और उपासना करे। हम अपने कर्तव्य पर कुछ बने रहें तो हम कुछ धर्ममार्गमे भी आगे अपना कदम बढा सकेंगे।

अशुद्ध परिणामरूप सकटसे भीतता का गुण— ये श्रोता दुःखोंसे निरन्तर भय रखने वाले हैं। किन दुःखोंसे ? ससारके सकटोंसे। खोटा परिणाम हो, उसको यह ज्ञानी श्रोता विपदा मानता है, तब मुझमें दूसरोंका सतानेका भाव ही क्यों बने ? मुझमें किसी प्रकारकी कुबुद्धि करनेका परिणाम ही क्यों बने ? यह ज्ञानी अशुद्ध परिणामोंको संकट समझ रहा है, क्योंकि इसमें जीव सक्लेशमय बना रहता है। इस दुःखसे जो निरन्तर भय बनाये रहते हैं, वे श्रोता शास्त्रश्रवण का लाभ ले सकने वाले अधिकारी श्रोता है। श्रोता के लक्षणोंके वर्णनमें दो तीन लक्षण यहा तक कहे गये हैं, अब बाकी लक्षण आगे आयेंगे।

परमार्थ सुखका अभिलाषित्व— कैसा श्रोता धर्मधारण करनेका पात्र होता है? इस सम्बन्धमें यह वर्णन चल रहा है, अर्थात् हम सब लोगोंकी बात का वर्णन है। कोई श्रोता दूसरे हैं उनकी बात कही जा रही है—ऐसा नहीं सोचना, किन्तु हम ही श्रोता हैं, हमारी ही बात कही जा रही है। जो वक्ता भी हो, वह भी ऐसा ध्यानमे लाये कि जो मैं बोलता हू वह अपनेको सुनानेके लिए बोलता हू, इसलिए वक्ता भी मैं हू और श्रोता भी मैं हू। हम सबकी यह चर्चा चल रही है। यह श्रोता सुखका अभिलाषी है। जो सुखका इच्छुक होगा वह ही सुखके उपायकी बात सुनेगा।

ससारी जीवोंके सुखके उपायोंकी विफलता— इस लोकमें इस जीवने सुखके लिए कितने उपाय रच डाले, किन्तु किसी भी उपायसे इसे सुख नहीं

मिला। बचपनमें नाना खेल खेले, सोचा इससे सुख मिलेगा किन्तु वहा भी सुख न मिला। जवानीमें विवाह किया, सोचा इससे सुख मिलेगा, किन्तु वहा भी सुख न मिला, लड़ाई झगड़े उपद्रव आदिके अनेक कष्ट सहने पड़े। सोचा कि सतान होगी, उनसे सुख मिलेगा, किन्तु वहा भी सुख न मिला। कोई पुत्र कुपूत निकल जाये तो उसका कितना दु ख होता है? चिन्ता और शल्य बनी रहती है, और यदि कोई पुत्र सपूत निकल आये तो उसका दु ख कुपूतसे भी ज्यादा होता है। कुपूतके विषयमें तो एक बार घोषित कर दिया कि उससे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है, हम इनके जिम्मेदार नहीं हैं, लो झगड़ा मिटा। पुत्र यदि सपूत है तो उसके आकर्षणमें आकर जिन्दगी भर बोझ ढो ढोकर बड़ा कष्ट उसके पीछे उठाना पड़ता है। धन सम्पदाके बढाने में सुखकी वाञ्छा की, किन्तु वहा भी सुख न मिला, वहा भी शान्ति सतोष न प्राप्त हुआ, वहा भी अनेक कल्पनावोंके क्लेश ही क्लेश बने रहे। सुखके लिए क्या-क्या उपाय नहीं किये? सब कुछ हुआ, वृद्ध हो गये तो अब जो शहरोंके निवासी हैं उनके यहा यह कायदा है कि जिसके नामकी जायदाद है वह उसका मालिक है, पैसा पासमें है, जायदाद उसके नामपर है तो लड़के लोग, अन्य लोग उसे खत्म करने की सोचते हैं। सोचते हैं कि यह जल्दी मरे तो यह सारी सम्पत्ति अपनी बने। कहा सुख ढूँढा जाय? कोई बूढ़ा गरीब हो तो उसे कोई पूछता नहीं है। गावमें कोई धनी हो तो वहा जायदाद तो नाम होती नहीं है, वह तो गरीबोंकी तरह ही गुजारा करेगा। कहा सुख ढूँढा जाय। इस जीवनमें आरम्भसे लेकर अत तक क्लेश ही क्लेश हैं।

जीवका सर्वत्र अकेलापन— हे आत्मन्! कुछ अपने हितका निर्णय तो करो। तुम अकेले ही तो हो, अकेले ही जन्म होता, अकेले ही मरण होता। अकेले ही बध है, अकेले ही ससारमें रुलना है और अकेले ही मुक्त होना है। सर्वत्र तेरे अकेलापन है। तू किसकी आशा करता है? अपने पैरों पर खड़े होने वाले मनुष्यको लोकमें भला कहते हैं। तू अपने ज्ञानबल पर खड़ा हो, अन्यकी आशा तज दे।

भी हैं। न हो तो लाख मांग लें। फिर सोचा कि लाख मांगा तो क्या मांगा करोड़ माग ले। फिर सोचा कि करोड़ भी हो गये और राज्यशासन राजा ों मेरी क्या महत्ता है? जब तक राज्यशासन हाथमे न हो तब ं बड़ा नहीं कहला सकता। अच्छा आधा राज्य मांगेंगे, फिर ाधा राज्य हमने लिया, आधा राजा के पास है तो दुनिया तो कि यह मांगा हुआ राज्य है। सो हम तो पूरा राज्य मागेंगे। द न आयी इसी कल्पना से।

ासौष्ठव— सुबह चार बजे भजनका टाइम हुआ। भजनमें पाठ ल ठिकाने आने लगी। उस विप्रने सोचा—अरे राज्यमें क्या ारी आफत है, हम तो आधा ही राज्य लेंगे पूरा नहीं, अरे लिया तो उसमे भी तकलीफ है। सो हम राज्य न लेंगे, करोड़ क हैं। फिर सोचा—अरे करोडपति भी तो चिन्तित है, इसी हजार और १०० किसीमे भी वह शान्तिका निर्णय न कर सका मांगे? इतने में राजा सामने से निकला। राजाने कहा—अरे मांग ले तू क्या चाहता है? तो विप्र बोला—महाराज, माफ ब तक हमने मांगा नहीं तब तक तो रात भर चैन नहीं पड़ी, माग लें तो न जाने मेरी क्या दशा होगी?

मवैभवका अधिकारी— भैया! कहा सुख ढूँढते हो, किस जगह ह मोहकी नींदका एक स्वप्न है। सब कुछ बिखर जायेगा। कोई रहेगा। सो कोई ऐसा बुद्धिमानी का काम करलो जिससे सदाके मेल जाय। बड़ा काम है यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् उपासना। जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही विश्वास रहे, यह तो न। जो पदार्थ जिस स्वरूपका है उस रूप ही ज्ञान रहे यह है और अपना जैसा स्वरूप है उसके अनुरूप ही आचरण रहे यह ारित्र। इस रत्नत्रयपरिणाममें ही पारमार्थिक आनन्द है। श्रोता ेक सुखका अभिलाषी होना चाहिए। मायामय सुखसे विरक्ति मार्थ सुखकी प्राप्ति हो, इस भावनाको लेकर जो उपदेशका श्रमण ात्मवैभव बढ़ता है।

ूषा व श्रवण— सबसे पहिले श्रवणकी इच्छा होना ही वैभव है। ी शुश्रूषा भी बडे सुभवितव्यतासे होती है। सो सुननेकी इच्छा ी एक वैभव है। कितने ही लोग तो धर्मकी बात सुननेकी भी रखते है। तो सर्वप्रथम सुननेकी इच्छा ही जगे, सुननेका मौका ी यह ही एक वैभव है। शुश्रूषाके बाद फिर धर्मवार्ताका श्रवण

मिलना द्वितीय वैभव है। इसके बाद फिर सुने हुए तत्त्वका ग्रहण करना तृतीय वैभव है। कितने ही लोग श्रवण करके भूल जाते हैं। श्रवण करके ग्रहण न करें, जैसे कि लोग कहने लगते हैं कि सुनो और खडे हो तो पल्ला झाड़कर खडे हो, जो कुछ पल्लेमें आए उसे झटक दिया, खडे हो गए। इससे क्या लाभ मिला?

मोहियोंकी शास्त्र सुननेकी विधि— कोई एक सेठ साहब थे, उनको शास्त्र सुननेका बड़ा शौक था। एक दिन वह शास्त्रमें लेट आए। पंडित जी ने पूछा, सेठ जी आज आप लेट कैसे हो गए? सेठ बोले कि पंडित जी वह ६ वर्षका जो मुन्ना है ना, सो वह भी आज शास्त्र सुनने आनेकी हठ कर गया। फिर क्या हुआ? मैंने उसे बहुत मनाया, न माना, फिर ८ आने पैसे दिये, सिनेमाका टिकट कटाकर भेज दिया तब यहां आये। अरे तो उसे भी साथ ले आते, क्या हर्ज था? पंडित जी! तुम जानते नहीं हो। हम सुनने की विधि जानते हैं कि कैसे सुना जाता है, सुना और उठे तो पल्ला झाड़ कर उठे। हमें उसकी विधि मालूम है, पर वह तो लड़का है, वह यदि अच्छी तरह शास्त्र सुनले और हृदयमें धारण करले आपकी बात और घर छोड़कर चल दे, मेरा घर सूना हो जाय तो हम क्या करेंगे? तो जब उसे सिनेमा भेजा तब हमें छुट्टी मिली। सुननेकी विधि भी कैसी अनोखी होती है मोही जनोंकी?

उपदेशके ग्रहण, धारण, विज्ञान व ऊहापोहका वैभव— सुननेके बाद में शिक्षाको ग्रहण कर लेना यह एक वैभव है। कुछ लोग ग्रहण भी कर लेते हैं अर्थात् जान भी लेते हैं, किन्तु उसे भूलें नहीं, उसकी धारणा बनाये रहें, यह उससे भी उत्कृष्ट वैभव है। धारणा करले, इसके बादमें अवधारित तत्त्वके सम्बन्धमें अपना विचार बनायें कि हेय क्या है, उपादेय क्या है? विशेष विचार करें, यही है विज्ञान। यह उससे भी उत्कृष्ट वैभव है। विज्ञान के बाद प्रश्न और उत्तर उठाकर उसका निर्णय करलें, यह है तर्क वितर्क, ऊहापोह। यह उससे भी उत्कृष्ट वैभव है। देखिये तर्क वितर्क हितकी भावना से होना चाहिए। केवल किसीका मुँह बंद करनेके भावसे जो तर्क वितर्क किया जाता है, वह श्रोताके गुणमें शामिल नहीं है।

कुतर्ककी अप्रतिष्ठापर एक दृष्टान्त— किसी गांवमें एक तेली था। सो उसने एक ऐसी अकल लगायी कि कोल्हूमें जो बैल चलता था उस बैल के गलेमें घंटी बांध दी। जब तक यह चलता रहेगा तब तक घंटी बजती रहेगी और हम जानते रहेंगे कि यह चल रहा है और जब घंटी बंद हो जायेगी तो समझेंगे कि अब बैल खड़ा हो गया है। सो आकरके फिर हांक

देंगे। इसके पीछे पीछे न चलना पडेगा। वहांसे निकलते हुए एक.वकील साहब बोले, क्यों भाई यह क्या कर रक्खा है? इस बैलके गलेमे घटी कैसे बांध रक्खी है? तो तेलीने बताया कि यह घंटी जब तक बजती रहेगी तब तक जानेंगे कि बैल चल रहा है और जब घंटी बजना बन्द हो जायेगी तब जानेंगे कि बैल खड़ा हो गया है और आकर खेद देंगे। तो वकील साहब बोले कि यदि यह बैल खडे ही खडे घटी बजाता रहे तब तो तुम धोखेमें पड़ जाओगे। तो तेली बोला कि वकील साहब जब हमारा बैल भी वकील हो जाएगा तो हम दूसरा इन्तजाम कर लेंगे। तो ऊहापोह किसी सीमा तक ही उचित है और वह भी हितके भावसे।

दुर्लभ नरजीवनकी जिम्मेदारी— भैया! सच तो बात यह है कि जिसने इस जगतके समस्त समागमोंको असार समझ लिया है, कहीं सार नहीं; कहीं सुख नहीं—यों निश्चय कर लिया है, ऐसा पुरुष ही कल्याणमें उत्सुकता रख सकता है। क्या है यह ठाठ, क्या है यह देह? मायामयी स्कंध है, जलके बुलबुलेकी तरह है। जिसके मिट जानेमें आश्चर्य नहीं, किन्तु बने रहनेमें आश्चर्य है। ऐसे इस मायामय असार देहपर गर्व करना यह कितना बड़ा व्यामोह और पागलपन है? अरे खुद ही तो खुदको खुद ही की ओर आकर गुप्त ही गुप्त खुद ही में तो कल्याण करना है। मनुष्यभव पाया है तो एक कल्याणके लिए। इस भवमें कल्याणकी बड़ी जिम्मेदारी है। मनुष्य भवसे सब ओरके रास्ते खुले हैं, यह नरक भी जा सके, स्थावर भी हो सके, देव भी बन सके; मोक्ष भी जा सके। भले ही आजके कालमें हीन सहनन होनेके कारण मुक्तिका मार्ग नहीं खुला है, लेकिन मुक्ति मनुष्यकी ही तो होती है; जब कि और जीवोंके रास्ते विभिन्न नियत्रित हैं।

मनुष्योंको छोड़कर अन्य जीवोंकी गतिका नियन्त्रण— देव मरकर देव नहीं बन सकते, नारकी नहीं बन सकते, नारकी मरकर देव और नारकी नहीं बन सकते। कुछ और बनना पडेगा। इसी प्रकार सभी जीवोंमें कुछ न कुछ नियंत्रण है, पर मनुष्योंके लिए तो सब पथ खुले हुए हैं। यदि बहुत आरम्भ परिग्रह मूर्छामे ही चित्त बसाया, तृष्णा और लोभसे रंगे ही रहे आये तो उसका फल नरकगतिमें जन्म लेना बताया है। सदाचारसे अपना जीवन बितायें। छल कपट रखें तो मायाचारके परिणाममें तिर्यंच होना बताया है। व्रत तप धर्मानुराग सयम साधनासे जीवन बितायें तो उसके परिणाममें देवगतिमें जन्म होना बताया है और थोड़ा आरम्भ, थोड़ा परिग्रह व धर्ममें लीनता रही आये तो उसका फल मनुष्यगतिमें जन्म लेना बताया है। जो चाहें सो पा सकते हैं।

सुगम लाभके परित्यागका अविवेक— देखिये भैया ! यह जीव केवल भाव बनाता है। भावके अतिरिक्त कुछ नहीं करता है। जो कुछ होता है वह होने वाले पदार्थके ही परिणमनसे होता है। जीव तो केवल भाव बनाता है और भावसे ही यह दुःख पाता है, भावसे ही यह आनन्द पाता है। कुछ यहा रकम नहीं लग रही है, कुछ दूसरोंकी मिन्नत नहीं करना है। सारी सृष्टिया भावके अनुसार हो रही हैं। तो जब भावसे ही आनन्द मिलता है, भावसे ही दुःख मिलता है तो दुःखके योग्य यह भाव करे, आनन्दके योग्य भाव न करे तो उसे कौन विवेकी कहेगा ? जैसे किसी मनुष्यके सामने एक ओर खलका टुकड़ा रख दें, एक ओर रत्न रख दें और उससे कहें कि जो तू मागे सो ही मिल जाएगा और वह मांगे खलका टुकडा तो वह आदरके योग्य नहीं है। ऐसे ही हम आप सबको सब कुछ भावों के द्वारा प्राप्त होता है। भावोंसे ही क्लेश मिलता है, भावोंसे ही आनन्द मिलेगा और वहा भी हम आनन्दके योग्य भाव न करें तो यह हमारी मूढ़ता है।

तत्त्वार्थश्रद्धान्मे विशद अवबोधपर एक दृष्टान्त—तर्क वितर्क उत्पन्न करना एक बड़ा वैभव है और इसके बाद अन्तिम वैभव है उसका श्रद्धान् और अनुभव बनाना। आजकी मानी हुई दुनियामें एक आश्चर्य श्रवण बेलगोलमें बाहुबलिकी मूर्तिको गिना है। बाहुबलिकी मूर्ति इतनी सुन्दर और विशाल है जो करीब हजार वर्ष पुरानी बनी है। फिर भी ऐसा लगता है कि अभी हो बनी हो। खुले मैदानमें मूर्ति है, वहा किसीने आज तक पक्षीकी बीट नहीं देखी है और न कभी कोई पक्षी बैठा देखा है, ऐसी अतिशयकी मूर्ति है, उसका हम वर्णन करें, जिसने न देखा हो वह सुने तो सुनने से बोध तो हो जायेगा कि हा कोई इस तरहकी मूर्ति है। इतने गज लम्बे पैर हैं, इतने गजके हाथ हैं, फोटो बता दे तो उससे भी पहिचान लेंगे। आप सब जान लेंगे, किन्तु जब वहा जाकर उस मूर्तिके दर्शन करें तो दर्शन करने पर जो जानना होता है, उस जाननेमें और यह सुनकर जाननेमें कुछ अन्तर है या नहीं ? अन्तर है। सुनकर जाननेमें वह विशद ज्ञान नहीं है और जो स्वय दर्शन करके जाना है, वह विशद ज्ञान है।

तत्त्वानुभवमें विशद तत्त्वबोध— ऐसी ही तत्त्वकी बात है। तत्त्वकी बात सुनी है, आत्माकी चर्चा सुनी है। अमूर्त है, ज्ञान दर्शन स्वरूप है, आनन्दमय है, सबसे न्यारा है, सब कुछ सुनकर जान तो रहे हैं, एक तो यह जानन और एक ऐसा जानना कि ससारके समस्त पदार्थोंको भिन्न और असार समझकर उनको उपेक्षा कर दें। अब किसी भी परपदार्थको यह न

जानना चाहें, कहीं उपयोग न दे और ऐसी स्थितिमें स्वय ही केवलज्ञान स्वरूपका अनुभव हो जाय, परिणमन हो जाय, एक शुद्ध सामान्य स्थिति हो जाय उस समय आत्मा को जानें। इन दोनो ज्ञानोंमे अन्तर है। स्वयं प्रयोग करके अनुभवा जाय तो वहा है सम्यग्दर्शनकानुभव और इस अनुभवके विषयको केवल सुनने सुनानेकी भी जोबात है वह है केवल बातें का ज्ञान। यों यह श्रोता तत्त्वश्रद्धान् रूप अपना वैभव बनाता है। इतने जिसमें गुण पाये जायें वह शिष्य है, वही शिष्य आत्मकल्याण कर सकता है। इन गुणोंके बिना शिष्यपना नहीं बन सकता है। यह श्रोता धर्मको सुन कर विचारकर ग्रहण करता है। अहो! यह धर्म सुखकारी है, दयागुणकरिके भरा हुआ है, मेरा ही स्वरूप है, मेरा ही हित है। यों इस स्वाभाविक धर्म में जिसकी रुचि होती है, जिसका इसमें ही आदर होता है वही श्रोता वास्तविक शिष्य कहलाता है। यों कुछ श्रोताके गुण कहे हैं। इन्हें जानकर अपना परिणाम ऐसा बनाना चाहिए जिससे अपने आत्महित करनेका ही भाव हो और उस भावका ही हम स्वरूप अनुभवें, धर्म धारण करें, ऐसी ही अपनी परिणति से अपना कल्याण सम्भव है।

स्वरूपावबोधकी पात्रता— जैसे कहते हैं कि सिंहनीका दूध सोनेके पात्रमे ही ठहरता है, इसही प्रकार वस्तुतत्त्वका स्वरूप एक ज्ञानी विरक्त पुरुष मे ही ठहर सकता है। इस जगत्मे आत्महित करने वाला वस्तुस्वरूपका सम्यक् अवबोध है। सिवाय सम्यग्ज्ञानके कोई अन्य उपाय ऐसा नहीं है जो इस जीवको संतोष ला सके। खूब परख लीजिए। स्वयं ही सत्त्व है, स्वयं ही परिणमनशीलता है और प्रत्येक पदार्थ स्वयके परिणमनसे परिणमता है। ऐसी स्थितिमें मेरे लिए सहाय मेरी विशिष्ट करतूत ही हो सकती है। किसी दूसरेसे मिन्नत करें, किससे आशा रक्खें, बड़े बड़े धुरन्धर सम्राट चक्री हो गये, भारी सेना, समस्त सेवकगण सामने खडे रह गए, पर उन्हें कोई बचा न सका। किसकी आशा रक्खी जाय और किससे संतोष मिले?

सन्तोषोत्पादक ज्ञान— भैया! एक बात और भी ध्यानमें लाओ, संतोष नामका परिणमन स्वयमे स्वयका है। संतोषका स्रोत स्वयंसे ही निकलता है। जब यह जीव सर्वसे विविक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र निजतत्त्वकी सुध लेता है तब ममता और अहंकारका बोझ खत्म हो जाता है। उस स्थितिमें यह आनन्द स्वय ही अपने आपमें बरस पड़ता है। आनन्दको देने वाला लोकमें कोई दूसरा नहीं है। प्रत्येक वस्तु है, उसका स्वभाव है, उसका परिणमन है। वस्तुका जो स्वरूप है उसके अनुकूल ज्ञान होना लाभदायक

है। कोई पुरुष सिद्धान्त बनाए वस्तुओंके अपनी इच्छाके अनुकूल परिणमन करनेका तो यह कभी नहीं हो सकता है। करना कुछ चाहता है और होता कुछ है। इस प्रकार उसमें आकुलताएँ ही रहती हैं। कोई मनुष्य जो पदार्थ जैसा है उसके अनुकूल अपनी धारणा बनाए, उसका ज्ञाताद्रष्ट रहे, उसका परिणमन उसमें ही है यों निरखे और अपना परिणमन स्वभाव कर्तव्य क्या है, यह अपनेमें देखे तो उसे शान्ति मिल सकती है।

अपनी संभालमें सफलता पर दृष्टान्त— जैसे कोई दो पुरुष किसी पहाड़पर यथेष्ट विहार करना चाहते थे। एकके मनमें आया कि इस पहाड़ पर कांटे बहुत हैं, इस समस्त पहाड़ पर चमड़ा बिछा दें, फिर मनमाना खूब इस पहाड़ पर घूमेंगे। दूसरे पुरुष ने यह सोचा कि मैं अपने पैरोंमें आधी पिंडली तक बहुत मजबूत चमडेके जूते पहन लू, फिर इस पहाडपर मन माना घूमेंगे। तो अब यह बताओ कि सफल कौन होगा? जो अपने पैरोंमें जूते पहिनकर घूमेगा। सारे पहाड़ पर चमड़ा बिछाने की धारणा बनाने वाला सफल न हो सकेगा। ऐसे ही दु ख है किस बातका इस लोकमे? पर-पदार्थका परिणमन अपनी इच्छाके अनुसार करना चाहते हैं और वह होता नहीं है तो दु खी होते हैं। चीज एक है और चाहने वाले दसों हैं। कल्पना सबकी जुदा है, तो किस किसकी सिद्धि होगी? यह सिद्धिका मार्ग नहीं है किन्तु समस्त लोकको स्वतंत्र जान जायें कि यह भी एक जीव है. इसमें भी वासना, संस्कार, धारणा, ज्ञान, इच्छा, कषाय सबके अपने अपने माफिक भरी पड़ी हैं, इसका परिणमन इस ही के अनुसार हो रहा है, बस मेरा काम जानने देखने का है, इससे आगे मेरा अधिकार नहीं है कि मैं किसी वस्तुको अपनाऊ, बस इस ज्ञानप्रकाशमें संतोष मिलेगा।

चोरका स्वरूप— लोकव्यवहारमें कहते हैं कि जो दूसरेकी चीजको अपनाता है वह चोर है। चोरमें और क्या होता है? दूसरेके घरमें रक्खी हुई चीजको अभी यह मान रहा है कि यह इसकी है और उसे आख चुरा कर चुरा ले, अपने घरमें रख ले अर्थात् दूसरेकी चीजको अपनी बना लेना यही चोरी है। वहा व्यवहारमें यह देखते हैं कि दूसरेकी चीज हड़प लेना सो चोरी है, पर भीतरमें मर्म यह है कि उसे मान लिया कि यह तो चीज मेरी हो गयी, थी दूसरेकी, इसही का नाम चोरी है। इसी तरह संसारके सब जीवोंकी बान है। आत्माको छोड़कर बाकी समस्त पदार्थ पर हैं, पराये हैं। जिस मकानमें रहते हैं वह मकान भी पर है, पराया है, जिस देहमें रहते हैं यह भी पर है, पराया है। जिन परिजनोंके बीचमें रहते हैं वे भी पर हैं, पराये हैं। इन परवस्तुओंको हम अपना रहे हैं या नहीं? यह देह

ही मैं हूं। मैं मोटा हू, दुबला हूं, मै थक गया हूं, मुझपर बड़ा बोझ है। ये सारी देहकी बातें ही तो अपनायी जा रही हैं। परवस्तुवोंको जो अपनाता है उसका नाम अभी क्या रक्खा था? चोर। यह सारा जगत् परमार्थतः चोर ही तो है।

मुफ्त संयोग और मुफ्त वियोग—देहको, मकानको, धनको, परिजन को अपना रहे हैं, परचीजको बरजोरी अपना मान रहे हैं, परवस्तु तो सदा नोटिस दे रही है कि हम तुम्हारे नहीं है, पर ये संसारी प्राणी उन पर-चीजोंको जबरदस्ती अपनाते हैं, अपनेको अधिकारी मानते हैं। मान न मान मैं तेरा महमान। जो कुछ जगतमें स्थिति प्राप्त हुई है यह सब वर्तमान भावदृष्टिसे देखो तो मुफ्त प्राप्त हुई है। आत्मा तो ज्ञानमात्र है। वह तो केवल भाव बनाता है, इस भावके जरियेसे तो कोई चीज नहीं प्राप्त हुई है। द्रव्य पुण्यका उदय था, समागम जुट गया है, आत्माके भावने वर्तमानमें क्या किया? कुछ भी तो नहीं किया। ये सब समागम मुफ्त ही मिले है और ऐसा ही जानों कि ये मुफ्त ही बिछुड़ जायेंगे। न कुछ उनमे मेरा पुरुषार्थ लगा और न किसी तरह ये रह सकेंगे। इस बीचमे जो कुछ भी भाव बनाया, कल्पना बुरी बनायी, उसका पापबंध अलग किया, जिरका फल भोगना शेप है।

मुफ्त संयोग और मुफ्त वियोगपर एक दृष्टान्त—एक चोर था, वह राजाकी घुड़शालामें पहुचा। वहांसे बहुत बढ़िया घोड़ा चुराकर लाया और मेला जो पशुवोंका होता है उसमें खड़ा कर दिया। ग्राहक लोग आए। घोड़ा था मानो ४००) का, लेकिन ग्राहकोंसे बतावे वह तिगुना दाम। ग्राहक पूछे— कितनेका दोगे? उत्तर देता—बारह सौ का देंगे। अब इतनेका कौन खरीदे? दस पांच ग्राहक इसी तरहसे आयें और पूछकर लौट गए। एक बूढ़ा चोर भी आया, जिसने अपने जीवन भर चोरीका काम किया था। पूछा—कितनेका दोगे? कहा १२००) का देंगे। उसकी आवाज और विराम सुन करके पहिचान गया कि यह घोड़ा चोरीका है। पूछा—भाई इसमें क्या गुण है? बोला— अरे इसमें कला है, इसकी चाल अच्छी है। अच्छा देखे तो इसकी चाल। हाथमें लिए था एक मिट्टीका हुक्का, सो उसे पकड़ा दिया और स्वय घोडे पर बैठ गया। घोड़ेको झट उड़ा ले ग[illegible]। वह वहीं का वहीं खड़ा रह गया। बादमे पहिले वाले ग्राहक आए, पूछा— क्या घोड़ा बिक गया? वह बोला—हां बिक गया। कितने में बिक गया? जितने में लाये थे उतने में बिक गया। मुनाफा कुछ नहीं मिला? हां, मुनाफेमे एक मिट्टीका हुक्का मिल गया है। तो जैसे चोरीका घोड़ा चोरीमें चला गया

ऐसे ही समस्त समागमोंकी बात है। सभी पदार्थ मुफ्त ही मिले हैं और मुफ्त ही बिछुड़ जायेंगे। मुनाफेमें पापका हुक्का ही साथ रह जायेगा।

बकरीकी तरह निजकार्यकी धुन— जिनका मोह नहीं मिटा है वे पुरुष तत्त्वके स्वरूपकी बातको हृदयमें नहीं जोड़ सकते। उत्तम श्रोता वही है जिसका चित्त ज्ञान और वैराग्यसे वासित है। श्रोतावोंको अपने हितके कामसे प्रयोजन है। कुछ श्रोता शुभ लक्षणके होते हैं, कुछ अशुभ। आज शुभ लक्षण वाले श्रोता बताये जाते हैं। किस-किस ढंगके श्रोता हुआ करते हैं? कुछ तो शास्त्रोपदेशकी बात तो हृदयमें धरकर अपना लाभ कर सकते हैं। एक होते हैं बकरी समान। आपने बकरियोंको देखा होगा, उन्हें केवल अपने कामका प्रयोजन है। जहां पत्ते मिल गये वहीं खा लिये, चाहे कोई कुछ करता हो, पर उनसे उन बकरियोंको कोई मतलब नहीं है। उन्हें तो केवल अपना पेट भरनेसे मतलब है। ऐसे ही उत्तम श्रोताजन केवल आत्मलाभकी ही बात सुनते हैं, उन्हें अन्य बातोंसे प्रयोजन नहीं है। कौन स्थान है, कैसी जगह है, कौनसा दिन है, क्या भविष्यकी बात है इत्यादि कुछ भी अन्य बातोंसे उन्हें प्रयोजन नहीं है। स्वहित कैसे हो, किसमें हो, इसही बातका जिन्हें ध्यान रहता है—ऐसे श्रोतावोंमें यह शुभ गुण होता है।

गौ, हंस व दर्पणकी तरह कुछ श्रोता— कुछ श्रोतावों को गौसम बताया है। जैसे गाय खाती है घास किन्तु देती है दूध। वह घास जैसी अल्प मूल्य वाली चीज खाकर बहुमूल्य वस्तु देती है, इसी प्रकार कुछ श्रोता ऐसे होते हैं कि अल्प ही उपदेश सुननेसे महान् लाभ लूट लेते हैं। हंसकी तरह कुछ श्रोता होते हैं, जो वक्ताके अवगुणोंको न ग्रहण कर गुण ग्रहण करते हैं। जैसे हंसमें यह गुण होता है कि मिले हुए दूध और पानीमें वह दूधको ही ग्रहण करता है। ऐसे ही कुछ श्रोता वक्ताके गुणको ही ग्रहण करते हैं। कुछ श्रोता दर्पणकी तरह होते हैं। जैसे दर्पणमें अपना चेहरा देख लिया, जो कुछ भी मिट्टी वगैरह लगी हो उसे हटा दिया, ऐसे ही कुछ श्रोता अपने अवगुणोंको निरखकर व निकालकर उनके गुण ग्रहण करने की कोशिश करते हैं।

तुला कसौटीके समान श्रोता— योग्य श्रोता हेय उपादेयमें बहुत शुद्ध तोल कर सकते हैं। वे तुलासम होते हैं। जो भी सारतत्त्व हो उसे वे ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे ही कुछ श्रोता कसौटीसम बुद्धिसे कसकर परीक्षा करके हेयको तज देते व उपादेयको ग्रहण करते हैं। प्रतिभासम्पन्न और सहज वैराग्यसे सुवासित जो पुरुष होते हैं वे ही तत्त्वके स्वरूपको हृदयमें धारण कर सकते हैं। लोकमें धन कन कचन राज सुख सब सुलभ हैं। इनमें कुछ सार

नही हैं। बडे-वडे राजा हुए, अपने-अपने समयमे उन्होंने अपना बडा रौव जमाया, प्रभाव जमाया, पर आज क्या है ? आज उनका कुछ नाम निशान भी नहीं हैं। सम्पत्तिमे, समागममे वास्तविक सुख और सार नहीं हैं। एक यथार्थज्ञान हो जाय, जो कि हम आप सवके स्वाधीन है, केवल अतरङ्गमे विचारने भरकी वात हैं। यथार्थ सिद्धि हो जाय तो इस सम्यग्ज्ञानके समान लोकमें वैभव अन्य कुछ नहीं हैं।

सुयोग और कर्तव्य— आज कितना सुयोग हम आपने पाया है। स्थावरोंकी योनिसे निकलकर, कीट पतगोंकी योनिसे निकलकर आज मनुष्य भवमे आये। देव सयम धारण नहीं कर सकते, देव श्रुतकेवली नहीं हो सकते, देव निर्वाण नहीं पा सकते, मनुष्य सयमी वन सकते हैं, श्रुतकेवली हो सकते हैं, निर्वाण भी पा सकते हैं। समस्त भवोंसे श्रेष्ठ भव यह मनुष्य का है। लेकिन मनुष्य होकर भी वही आदत यदि वनी रही जैसी कि पशु पक्षी की योनिमे रहकर किया था तो इस मनुष्यभवके पा लेनेसे कुछ भी लाभ न मिल सकेगा। कल्याणका अवसर तो इस मनुष्यपर्यायसे ही मिलेगा। जब तक बूढे भी नहीं हैं, कोई रोग भी नहीं है तब तक ज्ञानार्जन करके समयका सदुपयोग करें। यह ही एक लाभदायक वात होगी, किन्तु इस दुर्लभ मनुष्य भवको यदि विषयोंके सुखमें, व्यर्थके मोहमें ही गवा दिया तो कुछ भी लाभ न उठा पाया। जो चीज त्रिकाल भी अपनी नहीं हो सकती उसे जो अपनी मानें, उसका सुधार न हो सकेगा।

नरवलका सदुपयोग— जैसे गन्ना होता है, उसके बीचके पोरोंमें कीड़ा लग गया हो तो वह भीतर लाल-लाल हो जाता है, जो कि खाया नहीं जा सकता। उसही गन्नेको कोई मूर्ख चूसकर खराव करदे तो उसने अपना भी मुँह खराव किया और गन्ना भी खराब किया। कोई विवेकी गन्नेके पोर काटकर खेतमे वो दे तो उससे अनेकों गन्ने पैदा होंगे। गन्नेकी जड़ तो खायी नहीं जाती, बड़ी कठोर होती है और गन्नेका ऊपरी भाग नीरस होता है वह भी चूसनेमें नहीं आता। केवल गन्नेका बीचका हिस्सा चूस सकते हैं और उसमें भी लग जाय कीड़ा तो कर्तव्य क्या है कि उसे चूसकर अपना मुँह न बिगाडे, न गन्ना वरवाद करें, उसके पोर काटकर वो दें, फिर तो न जाने उससे कितने गन्ने पैदा होंगे। ऐसे ही यह मनुष्य-जीवन है। इसमें तीन पन हैं— बुढापा, जवानी और बालपन। बुढापेमें तो कुछ किया नहीं जा पाता। वालपनमें अज्ञान रहता है। केवल एक जवानीका समय ही ऐसा है कि जिसमे पुरुषार्थ करनेकी भी शक्ति है और ज्ञान प्रतिभा भी मिली हुई है, लेकिन उस जवानीके पोरोंमें लग गया विषयभोगो

का कीडा और इसे विषयसुखमें ही गवा दे तो यह विवेककी बात नहीं है। विवेक तो यह है कि इस जवानीको सिर्फ ज्ञानार्जनमें, धर्ममें, तपस्यामें लगावें अर्थात् वो देवें तो इसके फलमें जो शुभ भाव होंगे, धर्मदृष्टि होगी वह लाभ देगी। इस कर्तव्यको भूलकर कुमार्गमें चलें तो कोई सहाय न होगा।

आत्मशरणकी बुद्धि-- भैया ! यह बुद्धि तज दो कि मेरे मित्र, पुत्र, स्त्री, माता, पिता, मकान, सम्पदा आदि मेरे शरण हैं, इस भ्रमको छोड़ दो कि ये कोई मेरे शरण हैं। आप सदाचारसे रहते हैं तो आपके पुत्र स्त्री मां बाप आदि भी खबर लेंगे और आप दुराचारसे रहते हैं तो कोई भी आपकी खबर न लेगा। तो शरण तो सदाचार ही हुआ। सदाचार होने से ही दूसरे लोग खबर लेते हैं। वह सदाचार क्या है ? आत्मधर्म। तो धर्म ही शरण हुआ, दूसरे लोग शरण नहीं हुए। ऐसा जानकर अपने आपकी शरणमें पहुंचें, तत्त्वज्ञान बनाएँ, सम्यक् श्रद्धान बनायें, सम्यग्ज्ञान बनायें और वैसा ही अपना आचरण बनाएँ। कुछ अपना भी काम कर लेंगे तो काम देगा, न कर सके अपना काम तो इस जीवनमें भी क्लेश होगा और परभव में भी क्लेश होगा। ज्ञानी विरक्त श्रोता उपदेशग्रहणका पात्र है, उसमें किसी कुमार्गकी बातका आग्रह नहीं होता है। जिसे जिद्द हो, हठ हो वह शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। जिसे आत्मकल्याणकी रुचि है वही उपदेश का पात्र है। ऐसे इस श्रोताके प्रकरणमें श्रोताके लक्षण कहे हैं, जिससे श्रोताजन अपनी ऐसी योग्यता बनाएँ कि इस ग्रन्थमें जो घटनाएँ आयगी उन सबको धारण कर सकें।

अशुभ श्रोताओंमें पाषाणसम श्रोता-- इस ग्रन्थमें आत्मा पर अनुशासन किया है। जिस पर अनुशासन करना है वह पुरुष कैसा होना चाहिए अर्थात् उपदेश ग्रहण करनेके योग्य कैसा पुरुष हो सकता है ? उसका यह प्रकरण चल रहा है। कुछ ऐसे विपरीत श्रोता होते हैं जो उपदेशके योग्य नहीं हैं। जैसे कोई श्रोता पाषाणसम होते हैं। जैसे पाषाणमें न भीतर कोमलता है, न बाहर कोमलता है, उस पर कितना ही पानी डाला जाय तो पानी का प्रवेश उसके भीतर नहीं हो सकता है। ऐसे ही कोई श्रोताजन इतने विपरीत आशय वाले हों कि धर्मका उपदेश उनके हृदयमें प्रवेश न कर सके तो वह श्रोता अयोग्य बताया है। कौनसा श्रोता योग्य है ? इसका वर्णन पहिले ही किया जा चुका है, अब शेष रहे खोटे श्रोतावोंकी बात कही जा रही है।

भग्नघटसम श्रोता-- कुछ श्रोता फूटे घडेके समान होते हैं। जैसे फूटे

घड़ेमे पानी भरा जाय, कुएसे खींचा जाय तो ऊपर आते ही आते पानी सब कुएमें गिर जाता है, घड़ेमें नहीं रह पाता है। ऐसे ही जिसे कहते हैं कि इस कानसे सुना उस कानसे निकल गया। इस प्रकारके श्रोताजन होते हैं वे उपदेश के योग्य नहीं हैं अर्थात् वे लाभ नहीं लूट पाते है। श्रोतावोंमे सबसे प्रमुख विशेषता बतायी गयी थी कि इसमे मेरा क्या हित है, किसमें मेरी कुशलता है–इस बातका जो चिन्तन रखता हो वही वास्तविक श्रोता हो सकता है। एक आत्मकल्याण की चाह न हो तो समस्त अवगुण उसमें आ जाते हैं, यह एक ऐसी मूल औषधि है। आत्मकल्याणकी वाञ्छा ही सब अवगुणोंको दूर कर देती है और जैसे आत्महित हो सके उस प्रकारसे प्रवृत्ति कराने लगती है। अत· सबसे पहिले हम आपमे यह वाञ्छा जगना चाहिए कि हमारा किसमें हित है ? हम उस तत्त्वको ढूँढ़ें।

विषयोंसे अतृप्ति— भैया! कुछ अनुभवने भी बताया होगा इस जीवनमे किसी भी परवस्तुसे सुख नहीं मिल सकता। जैसे रोज खाते हैं, फिर दूसरे दिन वैसे ही भूखे रह जाते हैं। भूख लग उठती है, वह खाया हुवा बह जाता है, मानो कुछ खाया ही न हो। ऐसे ही भोग हैं। इन भोगों को भोगते हैं और भोगनेके कुछ थोडे समय बाद वैसे ही उत्सुक और प्यासे बने रहते हैं। उनसे कौनसा तत्त्व मिला अब तक ? किसी भी परवस्तुमें मेरा हित नहीं है। मेरा हित मेरे ही स्वरूपमें बसा हुआ है। जो जाननहार है वही जान सकता है।

अनुभवकी अवक्तव्यता— प्रथम तो विषयोंकी भोगी हुई बात भी मुखसे प्रकट नहीं की जा सकती है। वह अनुभवमे उतर जाय यह तो सम्भव है, पर शब्दों द्वारा नहीं बतायी जा सकती है। कोई बतावे कि मिश्री का स्वाद कैसा होता है, कोई शब्द ही नहीं हैं कि कोई बता सके ? भले ही वह अनेक युक्तियोंसे प्रतिपादन करे कि देखो— गन्ना मीठा होता है ना, उस गन्नेका रस ही रस निकाल लीजिए उसे गाढा करके राब बना लीजिए तो उस रससे भी अधिक मीठा वह राब होता है। उसका मैल छुटा कर गुड़ बना लीजिए तो वह गुड उस राबसे भी अधिक मीठा होता है। उस गुड़का भी मैल छुटाकर शक्कर बना लीजिए तो वह शक्कर उस गुड़से भी अधिक मीठी लगती है, उस शक्करकी चासनी करके उसका भी मैल निकालकर विधिवत् मिश्री बना ली जाय तो तुम अदाज करलो कि वह तो कितनी मीठी होगी। इस तरह बातोंसे बहुत कुछ बता दिया, लेकिन जिसने मिश्री नहीं चखी है उसके चित्तमें विशद ज्ञान हो ही नहीं सकता कि मिश्री कैसी मीठी होती है ? उसे बातोंमे समय गुजारने की अपेक्षा मिश्रीकी डली

खिला दीजिए तो उसे खाकर वह स्वयं अनुभव कर लेगा कि मिश्री ऐसी मीठी होती है।

ज्ञानानुभूतिकी मात्र अनुभूतिगम्यता— आत्मतत्त्व के अनुभव की बात कितने ही शब्दोंमें कही जाये, सामान्य परिज्ञान चाहे हो जाय, पर जिसने निर्विकल्प होकर अपने शुद्ध ज्ञानप्रकाशका अनुभव नहीं किया है उसको विशद परिज्ञान नहीं हो सकता है। आत्मानुभवका विशद बोध उसके ही होगा जो परद्रव्योंको हेय, भिन्न, असार समझकर उनका उपयोग करना छोड़ दे और सहज विश्राम पाये, उसके ही ऐसी शुद्ध ज्ञानानुभूति स्वयं होती है कि उस आनन्दमें तृप्त होकर वह जानता है कि आत्मतत्त्व कैसा है? वह भावात्मक है, ज्ञानात्मक है, यह सब विशद परिज्ञान उसके हो जाता है। यह आत्मतत्त्वकी बात जब तक विपरीत आशय रहता है तब तक यह भली प्रकार सुनी भी नहीं जा सकती है।

मेषसम श्रोता— कुछ श्रोता मेढाकी तरह बताये गए हैं। मेंढा जैसे पालनहार मालिकको ही मारने लगता है ऐसे ही विपरीत आशय वाले श्रोताजन वक्ताके दोषोंको ही निरखकर दोष-ख्यापन करके अथवा अन्य प्रकार वक्ताको ही मारने लगते हैं। कहीं यह वक्ता वर्णन करने लगे कि परस्त्री सेवन महान् पाप है, उसके सेवने वाला नरक जाता है, तो जो परस्त्रीगामी होगा वह ऐसा ख्याल बड़ी आसानीसे कर सकता है कि यह वक्ता मेरेको ही लक्ष्यमें लेकर ऐसी गालियां देता है और वह मारनेका, घात करनेका उद्यमी हो जाय तो इसमें कौनसे आश्चर्यकी बात है? जब तक आत्मकल्याणकी भावना उत्पन्न नहीं होती है तब तक श्रोतामें जो गुण होने चाहियें वे प्रकट नहीं हो पाते हैं। उन समस्त गुणोंके विकासका मूल आत्मकल्याणकी भावना है। यदि सुख विषयोंमें होता तो आचार्यदेव विषयोंके भोगने को ही धर्म बता देते। कोई कठिनाई की बात न थी, किन्तु ये समस्त विषय प्रथम तो पराधीन हैं, क्षणिक हैं और फिर उनसे सुख भी नहीं आता है, केवल यह जीव कल्पना करके अपनी कल्पनावोंको विषय बनाकर सुखकी कल्पना करता है। ये विषय जितनी देर तक प्राप्त हैं उतनी देर तक भी क्लेशके कारण हैं और उनके वियोगके समय भी यह बड़ा कष्ट मानता है। श्रोताका प्रकरण इस ग्रन्थमें भूमिकाके अन्तमे रक्खा है कि जिनको सुनना है उन्हें पहिले अपनी पात्रता बनाना है, जिससे ये समस्त उपदेश टिक सकें। आजके इस प्रकरणके बाद इस ग्रन्थका प्रारम्भ होगा।

घोटकसम श्रोता— श्रोतावोंमें कुछ ऐसे भी विपरीत आशयके श्रोता होते हैं, जिन्हें शास्त्रमे घोटकसम कहा है। जैसे घोड़ा घास डालने वालेको

ही काटता है। घोड़ेमें करीब-करीब ऐसी आदत होती है कि घास डालने वालेको अपने दांत निकाल कर हिनहिनाता है व कुछ मुँह भी पसारता है, तो जैसे थोड़ा घास देने वालेको ही काटता है, यों ही कुछ श्रोताजन उपकार करने वाले वक्तासे भी द्वेष रखते हैं। सर्वत्र यह बात देखते जाना कि जितने भी अवगुण श्रोतामें हो सकते हैं उन अवगुणों की जड़ केवल अपने हितकी वाञ्छा न रहना है। जो अपनी कुशलकी चिन्तना नहीं करते हैं, जिन्हें सांसारिक विषयवासनाएँ सताती रहती हैं उनको धर्मवार्ता सुनने, ग्रहण करने और अवधारण करनेका अवकाश ही नहीं है। हम इस भावसे सुनें कि हमें अपना हित करना है। ससारके समस्त समागम ये मेरे शरणभूत नहीं हैं, इनसे मेरा कुछ पूरा न पड़ेगा। मुझे कुछ अपने आपमें ही अतस्तत्त्व निरखना है, जिसके दर्शनके प्रसादसे नियमसे सुखपूर्ण अवस्था प्रकट होती है।

चलनीसम श्रोता-- एक श्रोता चलनीसम बताया गया है। जैसे आटा छाननेकी चलनी सार-सार चीजको तो नीचे गिरा देती है और छुकलन छिलका असार चीजको अपने आपके अन्दर रख लेती है, ऐसे ही सार-उपदेशपर, तत्त्वकी बातपर तो दृष्टि न जाय, उसे तो फेंक दे और जो दोषकी बात हो, कुछ त्रुटिकी बात हो याने कल्पनामें कुछ त्रुटि समाई हो उसे ग्रहण करले-इस प्रवृत्तिमें हम आपका कुछ लाभ नहीं है। कुछ लोग अपने आपका बड़प्पन दिखानेके लिए भी वक्तासे चर्चा, प्रश्न शका, रोष अथवा कुछ चुभती हुई वचनशैलीसे बोलना आदिक व्यवहार करते हैं। ऐसे श्रोताजनोंको उपदेश ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं कही गई है।

भैया! करना क्या है? विडम्बना और विपदामें तो हम आप इतने अधिक फसे हुए हैं, देहके बन्धनमें पड़े हैं, कर्मोंके वशमें जकड़े हैं और निश्चयतः अपने आपके विभावके बन्धनमें जकड़े हैं, इतने कठिन गुलामीमें पड़े हैं. और फिर इन मायामय रूपोंको मायामय लोगोंमें दिखाने की मायामय कोशिश कर रहे हैं। इसमें सार क्या मिलेगा? गुप्त ही गुप्त अपने आप में ही अपने आपको बसाकर चिन्तन करके, बातचीत करके कुछ हितकी समस्या हल कर लें, हितका मार्ग पावें, यह हम सबके लिए लाभकारी बात है।

मशकसम श्रोता-- कुछ श्रोता मशकसम बताये गए हैं। जैसे हवासे भरी हुई मशक ऊपरसे कितनी सुहावनी लगती है किन्तु भीतर रिक्त है। ऐसे ही ऊपरसे हम अपना धर्मात्मापन प्रकट करें, किन्तु तत्त्वज्ञानानुभूति इसमें न बसी हो और अपने कषायसंस्कारके माफिक ख्याति तो धर्मात्माके रूप

में चाहे और जो आत्माकी ख्याति है, प्रसिद्धि है, वह हममें न बस पाये तो हम अपना कल्याण नहीं कर सकते हैं। श्रोतावोंके सम्बन्धमें भलापन क्या क्या होते हैं, इसका वर्णन तीन दिनोंसे चल रहा था। आज चूँकि यह भूमिका समाप्त हो रही है और ग्रन्थके वक्तव्यका आरम्भ अगले छदसे होगा तो कुछ विपरीत आशय वाले श्रोतावों की बात कह रहे हैं ताकि हम उस विपरीतताको जानकर उस विपरीत आशय को त्यागें, हृदयको स्वच्छ बनाएँ ताकि इस इष्ट उपदेशको धारण करनेके पात्र बन सकें।

सर्पसम श्रोता— हम शास्त्र सुनें, किन्तु सुनकर उसमेंसे केवल दोषमयी बातोंको ही उगलें, दूसरोंको बनायें। क्या हुआ आज ? यों यों कैसे किया ? किसी शब्दके तीन चार अर्थ भी हो सकते हैं। उसमें से हितकारी अर्थको त्यागकर अनिष्ट अहित अर्थका ख्यापन करके हम केवल दोषोंका ही विस्तार करें तो ऐसी स्थितिमें ऐसे श्रोताजनोंको शास्त्रमें सर्पसम कहा गया है। दृष्टान्तमें यों जानना कि जैसे सर्प दूध पीवे तो वह अमृत अथवा एक शुद्ध रस नहीं बनता, वह विषरूप ही परिणत होता है। ऐसे ही जब हम में कोई पर्यायबुद्धिकी बात अटकी है। मै मनुष्य हू—ऐसे ही परिणमन, इसमे ही आत्मीयताकी प्रसिद्धि है तो वहा ब्रह्मस्वरूपकी बात उसका गुण स्वभाव हमारे ग्रहणमे नहीं आ सकता है। सभी इन अवगुणोंके सम्बन्धमें यह जानते जायें कि जब तक आत्मकल्याण की भावना नहीं जगती है तब तक नाना प्रकारके अवगुण हममें समाये रहते हैं। आत्महितकी विशुद्ध भावना जगने पर वे सब गुण स्वयं प्रकट हो जाते हैं और सर्व दोष स्वय टल जाते हैं। जैसे व्यवहारमें एक विनय गुण ऐसा है कि निष्कपट नि स्वार्थ विनयवासनाकी सिद्धि, विनयकी परिणति की जाय तो उसमे सभी गुण स्वत प्रकट होने लगते हैं।

महिषसम श्रोता— कुछ सुनने वाले ऐसे भी विपरीत आशयके होते हैं जो स्वय भी कुछ ग्रहण न करें और वातावरण भी गदा बना दें। बोलकर चर्चा करके क्रोध भरी प्रवृति दिखाकर कि समस्त अन्य श्रोताजनोंका भी बिगाड़ करदे, ऐसे श्रोतावोंको महिषसम बताया गया है। अपने आपमें भलापन प्रकट करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम अपने अवगुणों की जाच करे। हमारेमे अवगुण हो तो उन्हें निकालकर अपनी स्वच्छता बनायें।

बिडालसम श्रोता— भैया ! बिलावको देखा होगा। कहीं दूध रक्खा होगा तो वह दूध पीना तो भूल जायगा और दूध रखे हुए बर्तनको उलट देगा, ऐसे ही उपदेशको धारण करना तो दूर रहा, उस उपदेशके समयका,

वातावरणका इसने ऐसा उलट पलट कर दिया कि वह सब अवसर चला जाय। श्रोतावोंके गुण और अवगुणोंकी चर्चा चल रही है। कोई यदि इस बातको सुनकर स्वयमें कोई कमी हो और ऐसा सोचले कि वाह ये तो हमारा लक्ष्य करके यों कह रहे हैं, तो भाई ऐसी बात नहीं है। यह प्रकरणवश कहा जा रहा है, उस क्रमका भंग न करके इस प्रकरणको पूरा करने के बाद इस ग्रन्थमें आत्माके लिये किस प्रकार अनुशासन किया है, कैसे आत्माको कुपथ से हटाकर सत्पथमें लगानेकी प्रेरणा की है, कितने कोमल और प्रिय शब्दों से सम्बोधन किया है—ये सब बातें इस ग्रन्थमें पाकर अपने आपका प्रकाश पायेंगे।

सारभूत तत्त्व– समस्त शास्त्रोंमे उपदेशका सारभूत, फलभूत उपदेश सुनने योग्य तत्त्व मात्र इतना है कि हम अपने आपको यथार्थ समझ जायें अर्थात् परकी अपेक्षा बिना, परके सम्बन्ध बिना केवल अपने आप ही मेरा जो स्वरूप रह सकता है उस स्वरूपको हम परिचयमे पायें कि मै क्या हू ? इस सहजस्वरूपके परिचयके प्रसादसे ही यह मोहका महान् संकट टलता है।

आत्मपरिचय बिना क्लेशोंका प्रसग-- जगत्के सभी जीव एक परमानन्दमय स्वभाव वाले हैं, किसीको कोई कष्ट नहीं है, किन्तु कष्टरहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मेरा है—इसका जब परिचय नहीं होता है तो चूँकि आनन्दका कुछ न कुछ परिणमन करते रहने का इस जीवका स्वभाव है, इसे ऐसा अपना तो परिचय है नहीं, तब परवस्तुवोंमें बुद्धि अटकती है और वहा यह निर्णय बनाता है कि ये भोग, ये विषय, ये पदार्थ मेरा हित करने वाले हैं, आनन्द देने वाले हैं, किन्तु बात होती है उल्टी, कारण कि भिन्न और क्षणिक पदार्थमें इसने आत्मीयता की है। जो कभी मेरे हो नही सकते उनको अपना मानना, अपना समझना यह तो क्लेशका ही कारण है।

मोहमत्तकी चेष्टापर एक दृष्टान्त— जैसे मार्गमे सड़कके किनारे किसी गांवके निकट कोई पागल आदमी बैठा हो, सड़कपरसे अनेक लोग गुजरते हैं, कोई मोटर वाले, कोई तांगे वाले सभी वहांसे गुजरते हैं। वे अपना मोटर तागा आदि खड़ा करके खाने पीने के लिए कुए पर आ जायें और फिर खा पीकर अपने मोटर तागा आदिको लेकर वे तो चले जाते है, पर यह पागल दु'खी होता है कि हाय मेरी मोटर चली गई, मेरा तागा चला गया। ऐसे ही ये समस्त पदार्थ अपनी परिणतिसे ही मेरे निकट आते है, अपनी ही परिणतिसे बिछुड़ जाते हैं, किन्तु निकट आने पर इस मोहोन्मत्त प्राणी ने परमे ऐसी कल्पना बनाली है कि यह चीज तो मेरी ही है, पर वह चीज कब तक रह सकेगी ? अपनी अवधिपर उसका वियोग होगा तब यह दु ख

होता है हाय मेरा पिता गया, मेरी मां गयी, मेरा पुत्र गया, मेरा धन गया, इस प्रकार हाहाकार करता है, रुदन मचाता है।

क्लेशविनाशका उपायभूत परिज्ञान— समस्त दुःखोंके मिटानेका उपाय मात्र इतना ही है जो बड़ी थोग्यतासे, सुगम रीतिसे कर लिया जाता है 'निजको निज परको पर जान।' अपना जो सहज आत्मस्वरूप है उसे तो यह मैं हू—यों जानों और इस आत्मतत्त्वके सिवाय अन्य जितने भी पदार्थ हैं, धन वैभव सम्पदा हैं इन्हें पर जानों। ये समस्त परद्रव्य अपने ही चतुष्टयमें तन्मय होकर रहा करते हैं। यह मैं आत्मपदार्थ अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भावमें तन्मय होकर रहा करते हैं। मेरी जो शक्ति है और उन शक्तियोंका जो परिणमन है वस उन शक्तियोंमें और व्यक्तियोंमें ही मैं तन्मय रह पाता हू। अन्य पदार्थकी शक्तियाँ और व्यक्तियोंमें कोई अन्य पदार्थ प्रवेश भी नहीं कर सकता। मेरा जो क्षेत्र है, मैं जितने में विस्तृत हू, उस निज क्षेत्रमें ही मैं रहा करता हू। शरीरमें वसकर भी शरीरका क्षेत्र जुदा है, मेरा क्षेत्र जुदा है, आकाशके एक ही क्षेत्रमें मेरा क्षेत्र भी पड़ा हुआ है शरीरका क्षेत्र भी पड़ा हुआ है। फिर भी स्वक्षेत्रकी अपेक्षा मेरा क्षेत्र पृथक् है, शरीरका क्षेत्र पृथक है। मैं अपने ही क्षेत्रमें, प्रदेशमें तन्मय हू। मेरा जो परिणमन होता है, उस ही परिणमनमें तन्मय हू, मैं किसी भी अन्यकी परिणतिमें तन्मय नहीं हो सकता।

भेदविज्ञानसे गुणोंका विस्तार— जैसे जब किसीके बुखार आए तो बुखारका अनुभव किसे होगा? सभी प्रायः जानते हैं, बुखारका अनुभव उसे ही होता है जिसे बुखार आता है। दूसरेको बुखार आये तो उसके थर्मामीटर लगाकर निरख लेते हैं कि इसके इतना बुखार है, लेकिन उसके बुखारका अनुभव नहीं हो सकता है, यह साधारण ज्ञान हुआ। इसी प्रकार मेरेमें जो कल्पना जगती है वह मेरे ही अनुभवकी तन्मयतासे होती है, किन्तु दूसरे किन्हीं भी जीवोंके किसी भी परिणमनका अनुभव नहीं होता। यों मैं सबसे न्यारा हू, अपने आपमें हू, ऐसा भेदविज्ञान होनेपर कल्याण की भावना जगती है। कल्याणभावनामें समस्तगुण उपस्थित हो जाते हैं।

बक व शुकसम श्रोता— कोई श्रोता बकसम कहे जाते हैं। जैसे बगुला ऊपर उज्वल है, किन्तु अन्तरङ्गमें मलीन है। ऐसे ही कोई श्रोता पुरुष ऊपरसे वचन और कायकी प्रवृत्तिसे उज्ज्वलता प्रदर्शित करते हैं, किन्तु मन दोषग्रहण, पापसेवन आदि दुर्वृत्तियोंसे मलिन रहता है। जिनके निज कुशलकामना नहीं है उनकी ऐसी ही मायाचारमयी परिस्थिति हुआ करती है। कोई श्रोता शुकसम होते हैं। जैसे सुआको जितना सिखावो

उससे जितना बुलवाओ उतना बोल लेता है, किन्तु उस बोलका अर्थ या भाव कुछ भी उसके ज्ञानमें नहीं है। ऐसे ही कोई श्रोता कुछ बार बार सुनकर रट लेते हैं; किन्तु उन शब्दोंका क्या भाव है वह हृदयमें नहीं उतरता। जिनकी बुद्धि विषयकषायके संस्कारमें लगी है, उनके उपयोगमें तत्त्वमर्म नहीं समाता है।

मृत्तिका व दंशसम श्रोता— कोई श्रोता मृत्तिकासम होते हैं। जैसे मिट्टी गीली हालतमें कोमल रहती है, जैसा चाहे मोड़ लो उसे, उससे जो चाहे बर्तन बना लो, किन्तु सूख जानेपर वह कठोर हो जाती है, उसे फिर रंच भी मोड़ नहीं सकते और न उससे फिर कोई दूसरा बर्तन बन सकता है वह फूट फूट कर टुकड़ा-टुकड़ा हो जायगी, किन्तु उससे कुछ बन न सकेगा। ऐसे ही कोई श्रोताजन शास्त्र सुनते समय तो कोमल परिणाम वाले रहते हैं, किन्तु उसके बाद ज्योंके त्यों कठोर हो जाते हैं। जिनके मूल लक्ष्यमें आत्म-हित की भावना नहीं बन पाई है, उनकी ऐसी ही कठोर स्थिति बनी रहती है। कुछ श्रोता दशमशकसम कहे गये हैं। जैसे डांस अपनी चोंचसे इन्जेक-शन देकर मनुष्यादिको सता डालते हैं, ऐसे इस स्थितिके श्रोता कुवचन बोलकर वक्ताको खेद पहुचाते हैं। जिसको आत्मस्वरूपका भान नहीं हुआ है और तीव्र कषायवासना रहती है, उसकी ऐसी ही दुष्प्रवृत्ति होती है।

जौंकसम श्रोता— कुछ श्रोता जौंकसम हुआ करते हैं। जैसे जौंक गायके स्तनोंमें भी लग जाय तब भी वहां दूधको ग्रहण नहीं कर सकती है, वह तो खूनको और उसमें भी गंदे खूनको ग्रहण करती है। ऐसे ही इस श्रेणीके श्रोता धर्मस्थलमें, शास्त्रसभामें भी पहुंच जायें तब भी वहा वक्ताके उपदेशके गुण ग्रहण न कर सकेंगे। वे तो वहां दोष ही खोजकर या बना कर ग्रहण करेंगे। यों श्रोता भले बुरे अनेक प्रकारके होते हैं।

योग्य श्रोतावोंमें स्वहितभावनाकी प्राथमिकता— इनमें शुभ श्रोता चूँकि आत्मकल्याणभावनासे पोषित हैं, अतएव ये उपदेश ग्रहणके पात्र होते हैं, किन्तु अशुभ श्रोता अपने कषायसंस्कारके कारण न स्वयं उपदेश लाभ ले सकते हैं और न अन्य जनोंका अवकाश बना रहने देते हैं। खेदकी बात है कि वे इतना श्रम भी करते हैं और फल उल्टा पाते हैं। हम सब आत्महितकी भावनासे वासित हों, ताकि ज्ञानलाभ पाकर अपना जीवन सफल कर सकें। यहां तक भूमिकारूपमें आचार्यदेव वक्ता व श्रोताके लक्षण बताकर ग्रन्थके प्रारम्भमें कल्याणार्थी जनोंको हितकारी आदेश अथवा उपदेश देते हैं।

पापाद्दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥८॥

सुखार्थियोंको हितनिर्देशन— इस ग्रन्थके वक्तव्यके प्रारम्भमें गुणभद्र आचार्यदेव सुखके चाहने वालोंको सम्बोधित करके एक आदेश और उपदेश दे रहे हैं। हे सुखार्थीजनों! समस्तजन इस बातको समझते हैं और सबके यहां यह बात सुप्रसिद्ध है कि पापसे दुःख होता है और धर्मसे सुख होता है। इस कारण पापको त्याग करके सदा धर्मका आचरण करें।

पापोंके छः विकल्प— पापके भेद कितनी ही दृष्टियोंसे कितने ही भागोंमें बांट दिये गये हैं। विकल्पोंकी दृष्टिसे इन पापोंको ६ भागोंमें बांटिये—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ। मोह नाम मिथ्यात्वका है। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा न मानकर विपरीत मान्यता देना इसका नाम मिथ्यात्व है। मोहपरिणाममें होता भी यही है। प्रेमका नाम मोह नहीं है, इसे राग कहते हैं। किसी परवस्तुके प्रति यह मेरी है, मेरे लिए हितकारी है—इस प्रकारकी श्रद्धा बसी है। विपरीत श्रद्धा का नाम मोह है, लेकिन शीघ्रतामें मोह और प्रेमको एक ही कक्षामें रख दिया है। अधिक प्रेमका नाम मोह कह दिया है और साधारण प्रेम होने का नाम राग कह दिया है। किन्तु मोहमें रागकी परिभाषा नहीं घटित की गई है। इसमें अज्ञानकी परिभाषा है। मोहका सम्बन्ध अज्ञानसे है। राग और द्वेष तो मोहके फल हैं।

मोह रागद्वेषकी वृत्तिपर एक दृष्टान्त— जैसे हाथी को पकड़ने वाले शिकारी लोग वनमें एक गड्ढा खोदते हैं और उस गड्ढेपर बासकी पचें बिछा देते हैं, उस पर एक झूठी हथिनी बनाकर उसी रंगके कागजोंसे मढ़ देते है, उसे करेणु कुट्टनी बोलते हैं, और एक करीब ४०, ५० हाथ दूर पर एक दौड़ता हुआ हाथी बना देते हैं। अब जगलका हाथी उस सुन्दर करेणु कुट्टनीको देखकर उस हथिनीके समीप रागवश आता है। वह रागमें इतना आसक्त है, कामवासनासे इतना पीड़ित है कि वह उस रहस्यका ज्ञान नहीं कर पाता है कि यहा गड्ढा है और यह झूठी हथिनी बनी है। सामने हाथीको देखकर उसे विषयबाधक जानकर उससे द्वेष करता है। यों मोह रागद्वेषके वशीभूत होकर उस गड्ढेपर आता है, वे बासकी पचें जो बिछी थीं, टूट जाती हैं, वह हाथी उस गड्ढेमे गिर जाता है। इस वन-हस्तीने मोह रागद्वेषकी पीड़ा सही है, मोह तो उसका अज्ञानरूप था। यह झूठी हथिनी है इसका उसे ज्ञान नहीं रहा। राग उस झूठी हथिनीका था और द्वेष उस विषयबाधक झूठे हस्तीका था। यों वह हस्ती मोह राग द्वेषके वश

होकर शिकारीके पंजेमे पड़ जाता है।

मोह पापराज— पापोंमें मुख्य पाप है मोह, मिथ्यात्व। जगत्‌के ये दृश्यमान् पदार्थ बिल्कुल भिन्न हैं, न साथ आये हैं, न साथ जा सकेंगे। यह देह भी मेरे आत्मासे भिन्न है। लेकिन मोह, पर्यायबुद्धि कितना कलुषित कार्य होता है कि इस देहको ही अपना सर्वस्व मानते हैं। यही मैं हू। इस शरीरमें चलते हुए कहीं भींत की कलईका दाग लग जाय तो उसे साफ किए बिना चैन नहीं पड़ती है। यह एक भीतरका परिणाम है। यद्यपि किया सब कुछ जाता है, किन्तु भावकी गतिकी विचित्रता है। पापोमें मुख्य पाप है मिथ्यात्व। यह मैं आत्मा अपने आप निरापद हू, अत निरपेक्षरूपसे अर्थात् कोई पर-उपाधिसे सम्बन्ध नहीं होता, निमित्त नहीं होता, स्वय अपने आप यह मैं आत्मा कैसा हू, केवल ज्ञानभावरूप और ज्ञानभावके अविनाभावी आनन्दरूप यह मैं आत्मतत्त्व हू, इसमे न रूप है, न रस है, न गध है, न वर्ण है, न स्पर्श है, न शब्द है, केवल आकाशवत् निर्लेप, अमूर्त, किन्तु चैतन्य प्रतिभासस्वरूप मैं आत्मा हू, इसका इस देह तकसे भी सम्बन्ध नहीं है। यह देह अचेतन है। यह मैं जो कुछ समझ रहा हू वह चेतन है। जब इस जीवका देहके साथ भी सम्बन्ध नहीं है तो अन्य परिजन, मित्रजन धन वैभव इनसे तो कुछ सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है? लेकिन इस भिन्नता को न जानकर इन ही परपदार्थोंमें आत्मीयताकी बुद्धि लग गयी, इससे बढ़कर पाप और क्या हो सकता है? अज्ञान, भ्रम, अधेरा ही सबसे मुख्य पाप है। अन्य पापोंसे तभी दूर हो पाते हैं वास्तविक मायनेमे जब कि यह अंतरङ्गमें मिथ्यात्व पाप दूर हो सके।

काम पाप— द्वितीय पाप बताया है काम। यद्यपि यह काम लोभ कषायमें ही गर्भित है तथापि कुछ विशिष्टता है। इस कारण इसे अलग गिनाया है। जो पुरुष कामवासनासे खिन्न हो जाता है वह आपेमे नहीं रहता है। उसकी दयनीय दशा दुर्दशा होती है। उसका इस लोकमे भी बुरा होता है और परलोकमें भी बुरा होता है। सुख चाहने वाले साधु सत जनों का यह कर्तव्य होता है कि वे अपने इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमें लीन रहा करें, इसही का नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्ममें चर्या अर्थात् लीनता करना इसका नाम है ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्यके बाधक जितने भी परिणाम हैं उनका नाम है व्यभिचार। कानोंसे कुछ सुनकर उसमें भी यदि रागद्वेषका परिणाम हो तो वह भी व्यभिचार है। आखोंसे देखकर कोई खोटी कल्पना जगे अथवा किसी प्रकारका राग अथवा द्वेषका विकल्प हो वह भी व्यभिचार है। किसी सुगधित वस्तुको सू घनेकी इच्छा होना, दुर्गन्धित वस्तुसे घृणा होना यह

भी व्यभिचार है। रसीला, स्वादिष्ट भोजन करनेकी वाञ्छा जगे, किसी स्त्री अथवा पुरुषविषयक कामकी वासना जगे, मैथुन प्रसग होना यह भी व्यभिचार है। यद्यपि ये सभी व्यभिचार हैं किन्तु लोकमें प्रसिद्धि व्यभिचार की केवल काम वासना की है। इससे यह परिज्ञान करें कि ब्रह्मस्वरूपके परिज्ञानमे बाधक यह कामवासना अत्यन्त अधिक बाधक है।

क्रोध पाप— तीसरा पाप है क्रोध। ये सभी पाप दु खके कारण हैं। जैसे मोहमें मार्ग नहीं मिलता, आकुलता ही बनी रहती है, आत्मसतोष नहीं होता, यों ही कामवेदनामें तृप्ति संतोष नहीं होता है, विह्वलता ही बनी रहती है, यों ही क्रोधमें यह जीव संतप्त हो जाता है। क्रोध आता है किस बात पर अपने कल्पित इन्द्रियविषयोंमें कोई बाधा जची और उस बाधामे निमित्त जो कोई पुरुष हुआ तो उसपर क्रोध होता है अर्थात् परपदार्थ इस रूप परिणमें कि वह हमारी कल्पनामें हमारे विषयका बाधक जान जाये तो क्रोध होता है। अरे विषय ही एक विडम्बना है। कोई मेरेपर विडम्बना है, विपदा है, उस विडम्बना और विपदाका कोई बाधक हो तो वह कैसे मेरा शत्रु है ? जो मेरे शत्रुका भी शत्रु हो उसे तो मित्र समझना चाहिए था। मेरे शत्रु हैं ये सब विषय सस्कार, इनका जो बाधक है वह मेरा शत्रु नहीं है, किन्तु मोहमें उसे शत्रु समझा जाता है और उस पर क्रोध आता है।

क्रोधज्वालामें सकलगुणोंका दहन-- भैया ! क्रोधमें रहे सहे सभी गुण भस्म हो जाते हैं। कोई दूसरोंका उपकार करता हो, दूसरोंकी मदद करता हो, वह किसी समय एक बार क्रोध कर डाले तो उसका उपकार, उसका आभार प्राय' सब भस्मसे हो जाते हैं। यह तो है। दूसरेके विषयकी वार्ता, किन्तु अपने आपमें भी जो गुण बनाये जा सके थे, जैसे क्षमा, संतोष आदिक गुण वे सब गुण इस क्रोधकी ज्वालमें भुनकर खाक हो जाते हैं। जो पुरुष गम्भीर होता है, ज्ञानवान् होता है वह क्रोध का शिकार नहीं बनता है। क्रोध तो क्षणिक है, इसके बहकावेमें आकर अपनी बरबादी कर लेना मूर्खता है। यह क्रोध करना भी पाप है, इससे क्लेश ही भोगनेमें आते हैं।

घमंड पाप-- घमडका परिणाम भी क्लेशका कारण ही है। जिसे अपनी यथार्थमहत्ताका बोध नहीं है वही घमड कर पाता है। मेरा स्वरूप तो ज्ञानरूप है ना। जाननेकी प्रकृति है। अब जाननेकी वृत्तिमें सीमा क्या हो सकती है ? हम १० मील तक का ही जानें--क्या ऐसा मेरे ज्ञानका स्वभाव है ? मैं इतने समय पूर्व या भविष्य की बात जानूँ--- क्या ऐसी सीमा होना मेरे ज्ञानका स्वभाव है ? यद्यपि वर्तमानमें उपाधिवश ऐसी स्थिति बन गई

है कि हम इतने समयसे अधिक पहिलेकी बात नहीं जान सकते हैं अथवा इतनी अवधिसे दूरकी बात नहीं जान सकते हैं—यह एक परिस्थिति है, व्यवस्था है, किन्तु जिस आत्मामें जाननेका स्वभाव पड़ा हुआ है उस आत्माके जाननेमे सीमा हो ही नहीं सकती है, चूँकि इसके जाननेका स्वभाव है तो यह इस उपाधि व्यवस्थासे मुक्त हो जायगा, केवलज्ञानपुञ्ज रूप बर्तेगा तो यह समस्त लोक अलोकको एक साथ स्पष्ट जान सकता है। इतना महत्त्व है मेरे स्वरूपका, किन्तु इसका जिसे पता नहीं है वह पायी हुई कला पर, चतुराई पर, स्थितिपर, सम्पदापर अपनेको महान् मानकर घमंड किया करता है। इस मानमें भी अपनी सुध नहीं रहती है। यह भी महापाप है। इससे मिलता क्या है इस जीवको ? कुछ नहीं, बिगड़ता सब कुछ है।

मायाचार पाप— एक पाप है मायाचार। मनमे कुछ है, वचनमें कुछ, कह कुछ रहे करेंगे कुछ, यह एक बहुत भीतरी विडम्बना है। बताया गया है कि जैसे मालामे जो दाने होते हैं उनमें छेद होते हैं, ना किसी दानेमें यदि टेढा छेद हो तो उसमें सूतका प्रवेश नहीं होता है। सूतमें दाने पोये जाते हैं ना, तो बक्र छेद वाले दानेमे तो सूतका प्रवेश नहीं होता है, इसही प्रकार वक्र हृदयमें मायाचारसे भरे हुए इस अंतरङ्गमें, अत:करणमे धर्मका सूत्र प्रवेश नहीं कर सकता है। यह तो सदा ही कलुषित है। जहा बैठे है, जहां खडे हैं, सदैव कलुषित चित्त है। इस जगत्में कौनसी वस्तु ग्रहण करने योग्य है, सचय करने योग्य है ? जिसके पीछे मायाचार किया जाय। मायाचारसे वस्तुका सग्रह भी नहीं होता है। यह तो एक भ्रम है कि हम मायाचार न करें, झूठ न बोलें, चालाकी न करें तो धन न आयेगा। यह भेद कैसे पड़ गया है कि कोई लखपति है, करोड़पति है, कोई भिखारी है। क्या यह चालाकी का, चतुराईका भेद है ? अरे यह सब पूर्वकर्मकृत भेद हैं। जिसका जैसा पूर्वकृत पुण्य है उसके अनुसार समागम मिला है। तो स्वतः ही जिस अपेक्षासे भेद है वही अपेक्षा सर्वसमागमोंके मिलानेका कारण बनती है। मायाचारसे दूषित हृदयमें तृप्ति संतोष दयाधर्म—ये नहीं ठहर पाते हैं।

लोभ पाप— छठा पाप है लोभ। लोभ पापका बाप बखाना, ऐसी प्रसिद्धि भी है। लोभ सर्वप्रकारके पापोंका जनक है। इसमें तृष्णा भाव है। इस तृष्णामें यह मनुष्य पायी हुई सम्पदाको भी आरामसे नहीं भोग सकता है। जितने वर्तमानमें साधन हैं भली प्रकार खा पी सकते हैं और धर्म दानके लिए भी अवसर है। इतनी सम्पदा है, लेकिन इससे दूनी हो जाय, इतना लाभ

और हो जाय, इस ओर दृष्टि होनेके कारण खाने पीनेका सुख भी किरकिरा हो जाता है, वर्तमान सम्पदाका भी आराम नहीं लिया जा सकता है। यों इस पापसे भी दुःख ही होता है।

आनन्दका कारण धर्म— पापसे तो दुःख ही होता है, किन्तु धर्मसे सुख होता है। धर्ममें एकमात्र धर्म तो अपने आपके शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव करना है और इस ज्ञानानुभूतिसे शुद्ध आनन्द प्रकट होता है। लोग सुखको ही महत्त्व देते हैं, इसलिए आचार्यदेव चूंकि इन लोगोंको समझानेका प्रयास कर रहे हैं, इस कारण इन्हें सुख शब्दसे ही समझाते हैं। यद्यपि सुख अच्छी चीज नहीं होती है क्योंकि इसमें कलुषता है, ख मायने इन्द्रिय और सु मायने सुहावना, जो इन्द्रिको सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं। इन्द्रियोंको सुहावनी लगने वाली बात पवित्र नहीं है, वह एक कलुषित प्रवृत्ति है, लेकिन लोग सुखको ही एक हितरूप समझते हैं, अतः हितरूप तो है आनन्दभाव, फिर भी आनन्दभावको ही आचार्यदेव सुख शब्दसे यहां बोलते हैं। धर्मसे आनन्द प्रकट होता है। आनन्दका अर्थ है समृद्धिशालिता। आत्मामें जितनी भी ज्ञानादिक शक्तियां हैं वे सब पूर्ण विकासरूप हो जायें, ऐसी समृद्धि प्रकट हो जाय, इसका नाम है आनन्द।

ज्ञानविकासका अविनाभावी सुखविकास— जहां सम्पूर्ण ज्ञान होता है वहां आकुलता नहीं रहती। आकुलता होनेका कारण ज्ञानकी कमी भी है। ज्ञान तो हो कम और जाननेकी इच्छा लगी हो—ऐसी स्थितिमें आकुलता हुआ करती है। किसी भी वेदनामें आकुलता बढ़नेका कारण यह है कि यह पता नहीं है कि कल क्या हो जायेगा? यदि यह विदित हो जाये कि कल यह स्थिति होगी तो वेदनामें वृद्धि नहीं हो सकती है, अथवा वेदना भी न रहेगी। ज्ञान तो हो कम और बनी हो जिज्ञासा तब आकुलता हुआ करती है। जहां ज्ञान भी पूर्ण विकसित है, दर्शन आदिक समस्त गुण विकसित हैं, वहां उस ही के साथ यह आनन्दगुण भी पूर्ण विकसित हो जाता है। धर्मसे आनन्द प्रकट होता है।

अनहोनीको होनी बनानेके विकल्पमें क्लेशकी प्राकृतिकता— अनहोनी को होनी बनानेके भावमें नियमसे क्लेश ही होगा। जो बात नहीं हो सकती है उसे हम होनी बनाना चाहें तो उसका फल केवल क्लेश है, आनन्द नहीं हो सकता है, क्योंकि हम जैसा बनाना चाहते हैं वैसा हो सकता नहीं है। हम धन सम्पदाको अपनेसे अभिन्न बनाना चाहते हैं और वह भिन्न रहती है, हम परिजनोंको सदा अपने ही निकट रखना चाहते हैं किन्तु वे रह नहीं सकते हैं, क्योंकि वे भिन्न हैं, ऐसे ही सर्वत्र घटाते जाइए।

अनहोनीको होनी बनानेका प्रयास केवल कष्टरूप है और जितने भी जीव दुःखी हैं, वे सब केवल इस ही रोगसे दुःखी हैं।

ज्ञातृत्व संपदा— जो जैसा है उसे उसही रूपसे जानते जाइए, चाहें कुछ नही अपने लिए। अरे, यथार्थ जाननसे बढ़कर और वैभव भी क्या है? क्यों हम कुछ चाहें? जो जैसा है वैसा ज्ञानमें आता रहे, इससे बढ़कर और क्या संपदा है। जब किसी प्रकारकी चाह नहीं रही तो वहां आकुलताका फिर काम ही क्या है? तो धर्मोंमे एकमात्र धर्म यह ही है कि निज ज्ञानान्द स्वरूपमे अपनी प्रतीति और अपना आचरण हो अर्थात् मात्र समस्त वस्तुवोंके ज्ञाताद्रष्टा रहनेके लिए हमारा जो भी यत्न होता है वह सब धर्म कहा जाता है।

धर्मपरम्परामें परिस्थितियां— धर्मकी परम्परामे कुछ पुण्य सत्सगमे बैठना, मदिरमे आना, पूजन करना, आरती करना, भजन बोलना, कुछ दिल इस ओर आना—यहासे उसका प्रारम्भ होने लगता है। यद्यपि ये सब बाते धर्मरूप अभी नहीं हुई हैं, किन्तु इन बातोंमे लगकर फिर इससे और आगे बढ़कर अब शास्त्राभ्यास किया, ज्ञानार्जन किया, वस्तुका तत्त्व समझने लगे, मनन किया, चिन्तन किया, और आगे बढो, अब इस ओर ध्यान आने लगा। अब यह उपयोग अपने स्रोतभूत इस ज्ञानप्रकाशको ग्रहण करने लगा और इन स्थितियोंमें जिस क्षण समस्त परद्रव्योंका उपयोग छूट जाय विकल्प हट जाय और दृढता से इसही स्वरूपको स्वीकार करले कि यह ही मैं हू—ऐसा मान ले तो वहां धर्म प्रकट होता है।

पापसे हटने व धर्ममे लगनेका आदेश -- पापसे दुःख होता है व धर्मसे आनन्द होता है। यह बात सर्वजनोंमे सुप्रसिद्ध है। इस कारण जो आनन्दके चाहने वाले हैं उन्हें उतना ही तो काम करना है कि जो दुःखकारी उपाय हैं उनका त्याग करदें और जो आनन्दकारी उपाय हैं, उनका पालन करें। यह बात कितनी स्पष्ट हैं, किसीसे भी पूछ लो। क्यों भाई! तुम यह मेरा पाप ले लोगे ना? तो वह स्वीकार न करेगा। पापका नाम भी इतना अनिष्ट है कि लोग इतना कहनेमे भी भय खाते हैं कि अच्छा तुम यह काम करलो, पाप हमारे लग जायेगा। इससे यह जानों कि पापोंसे आनन्द नहीं होता है, आनन्द तो धर्मसे होता है। इस कारण सुखार्थियोंका यह कर्तव्य है कि पापोंको छोड़कर धर्मकार्य करें। अब आगे यह बतावेंगे कि इस धर्मकी परम्परा कहासे चली है और इसका जो मूल स्रोत है उसकी उपासनामें हम धर्मपालनमें सफल हो सकेंगे, इसको स्पष्ट करेंगे।

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात्सा सर्वकर्मक्षयात् ।
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात्स श्रुतेः ॥
सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यतः ।
तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै ॥९॥

सुख प्राप्तिके लिये प्रथम कर्तव्य— समस्त जीव उत्तम सुखकी प्राप्ति को चाहते हैं। उनकी एक यही कामना है कि मुझे शीघ्र ही उत्तम सुख प्राप्त हो। उत्तम सुखकी प्राप्ति समस्त कर्मोंके क्षयसे होती है। सुखमें बाधा देने वाला इन कर्मोंका उदय है। समस्त कर्मोंका क्षय सच्चारित्रसे हुआ करता है। अपने आत्माका आचरण आत्माके स्वभावके अनुरूप बने तो समस्त कर्मों का क्षय होता है और यह सम्यक्चारित्र, शुद्ध आचरण ज्ञानमें नियत है। सम्यग्ज्ञान हो तो भला आचरण बन सकता है और यह सम्यक् अवबोध आगमसे प्रकट होता है। शास्त्रसे शुद्धज्ञानकी प्राप्ति होती है और ये आगम शास्त्र श्रुतिसे प्रकट होते हैं। श्रुतिका अर्थ है भगवतका सातिशय वचन। इसका नाम दिव्यध्वनि भी है और वह ध्वनि आप्तसे प्रकट होती है। आप्त कहते हैं पहुचे हुए को, अर्थात् जो वीतराग और सर्वज्ञ हो। आप्त समस्त दोषोंसे रहित होता है। तब सुखकी प्राप्तिके अर्थ सुखकी परम्पराके मूल निमित्त कारण हुए आप्त सर्वज्ञदेव हैं। अत हे सज्जनों! सत्सुखके अर्थ उनकी आराधना करनी चाहिए।

शुद्धानन्दमार्गप्राप्तिका मूल निमित्त— इस छंदमे हम आप सबके लिए सुख प्राप्तिका मूल निमित्तकारण बताया गया है। उपादेय तो सुख पानेके लिए हम स्वय ही हैं। प्रभु यदि दूसरोंको तारते हों और यह जीव स्वय अपनी बुद्धि योग्य न बनाता हो तो ये प्रभु किसको तारें, किसको न तारें-यह उनमें पक्ष हो जायगा। प्रभु तो तीनों लोक के ज्ञाता हैं और आनन्दमें मग्न रहा करते हैं। उनका तो आदर्श स्मरणमें आ जाय, यही उनका प्रसाद है तथा इस प्रसादमें हम अपने आपही अपने में शक्तिको प्रकट करते हैं और उस शक्तिके प्रतापसे सुख प्राप्त कर लेते हैं। फिर भी इस छदमें जो परम्परा दिखायी है उससे आप यह जानेंगे कि मूल निमित्तकारण हम सबके आनन्दमें लगनेका भगवान् सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं।

आप्त देव— जो कोई श्रमण आत्मसाधना करके रागद्वेषसे रहित होकर अपने ज्ञानका पूर्णविकास कर लेता है, वह महाश्रमण सकल परमात्मा हो जाता है। 'कल' का अर्थ है शरीर व 'स' का अर्थ है सहित अर्थात् शरीर सहित परमात्मा, साकार परमात्मा या सगुण ब्रह्म। शरीर तो तब विमुक्त होगा जब आयु के निषेक समस्त खिर जायेंगे। जो मुक्त होता है उसे चरम-

शरीरी कहते हैं। इनके शरीरका जब वियोग होगा तो शरीर कपूरकी तरह उड़ जायगा, पर जब तक आयु है तब तक शरीर लगा हुआ है, किन्तु आत्मसाधनाके प्रतापसे उनमें वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट हुई है। जो पुरुष वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं और साथ ही हितोपदेशक हैं उन्हें आप्त कहते हैं। आप्तका शुद्ध अर्थ है पहुचा हुआ। जो ज्ञानमें सर्वोत्कृष्ट हो उसे पहुचा हुआ कहते हैं। जिसने अपने ज्ञानका शुद्ध विकास कर लिया है उसे आप्त कहते हैं।

उपदेशका मूलस्रोत— इन सकलपरमात्माने चूँकि श्रमण अवस्था मे अथवा इससे पहिले लोगोंके उपकारकी भावना की थी, इस कारण इनके इस प्रकारकी प्रकृतिका बध हुआ कि सकलपरमात्मा प्रभु हो जाने पर भी वचनयोगवश उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। देखलो भैया! कर्मोंका फल भी किस-किस रूपमें प्रकट होता है? भव्य जीवोंके तो पुण्यका उदय है और प्रभुमें पुण्य प्रकृतिके उदयवश जो वचनयोग चल रहा है, ध्वनि हो रही है इसे कहते हैं श्रुति।

वेद, श्रुति, स्मृति व पुराण— चार बातें प्रसिद्ध हैं- वेद, श्रुति, स्मृति और पुराण। इनमे वेद नाम है केवलज्ञानका। भगवान् से वेद भिन्न नहीं हैं सो भगवान् ही वेद है। सकलपरमात्माका जो लोकालोकका जाननहार ज्ञान है उस ज्ञानका नाम वेद है। ऐसे वेदके अधिकारी सकलपरमात्मा से श्रुति प्रकट होती है। श्रुतिका अर्थ है--दिव्य ध्वनि। जिसे लोग सुनें उसका नाम है श्रुति। और जो सर्वोत्कृष्ट हो, प्रभु परमात्माकी यह ध्वनि सर्वोत्कृष्ट श्रुति है। इस श्रुतिको सुनकर गणेश जो बडे उत्कृष्ट गुणोंके पुज आचार्योंके भी ईश हैं, जिनका अपर नाम है गणधर। ये गणेश उस श्रुति को सुनकर स्मृति उत्पन्न करते हैं, अर्थात् उस श्रुतिसे द्वादशागरूप स्मृति बनाते हैं। फिर भी जगत्के जीवोंको आचार्यजनोंने जो उपदेश दिया है, उस उपदेशपरम्परासे जो शास्त्र रचे जाते हैं उन शास्त्रोंका नाम है पुराण। यों इन समस्त पुराणोंका मूलस्रोत है वेद अर्थात् प्रभुसर्वज्ञदेवका केवलज्ञान। उस केवलज्ञानमय आप्तसे श्रुति निकली है, उस श्रुतिसे द्वादशाग की स्मृति निकली है और उसकी परम्परामे ये समस्त प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग-- चार विषयोंमें विभक्त शास्त्र रचे गये हैं। यों आप्तदेवकी श्रुतिसे जो आगमका विस्तार हुआ है, उस आगमका अध्ययन करके भव्य जीव अपना समीचीन ज्ञान बनाते हैं।

सम्यग्ज्ञानमें पदार्थका स्वरूप— सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं जो जैसा हो उसे वैसा जानना। जो भी पदार्थ आज सामने हैं, सम्यग्ज्ञान सबका निर्णय

वर्तमान पदार्थमे ही कर लेता है। ज्ञानको भूतकालकी अपेक्षा नहीं लेनी है। ये पदार्थ कहासे आये, किसने बनाये आदिक विकल्पोंकी ज्ञानमें आवश्यकता नहीं है। वर्तमानमें जो पदार्थ सामने हैं उस ही पदार्थमें उसके धर्मको जान कर निर्णय करलो। प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। इन्हीं का दूसरा नाम है सतो गुण, रजोगुण, तमोगुण। ध्रौव्य नाम सत्वका है। जिसमें आविर्भाव और तिरोभाव नहीं है। उस सत्त्वके आधारमें जो पर्यायों का आविर्भाव होता है उसका नाम उत्पाद है अथवा रजोगुण है और उत्पन्न हुई वृत्तिका जो अगले क्षण अभाव होता है उसका नाम व्यय है अथवा तमोगुण है। प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं, उन्हीं तीन गुणों को देवताके रूपमें माना जाय तो प्रत्येक पदार्थमें ध्रौव्य का प्रतीक विष्णु और उत्पादका प्रतीक ब्रह्मा और ध्रौव्यका प्रतीक महादेव है, शकर है। ये त्रिदेवतामय समस्त जगत्के पदार्थ हैं।

पदार्थकी परिणमनशीलता-- जो पदार्थ है वह प्रतिसमय परिणमता रहता है। कोई उसका ख्याल करे तो, न करे तो, किसी की जानकारीमें हो तो, न हो तो। यदि परिणमन करने वाले देवता उसही पदार्थमें, स्वभाव में न हों तो अनन्तानन्तपदार्थ हैं, और वे प्रतिक्षण अपने पर्यायकी सृष्टि करते रहते हैं, इसमें बाधा आ जायगी। जैसे घड़ीमें चाबी भर दी जाय तो वह निरन्तर चलती रहेगी। इसी प्रकार अनन्त पदार्थ हैं, जिनमे अनन्त सूक्ष्म हैं, अनन्त स्थूल हैं, वे समस्त पदार्थ प्रतिक्षण स्वनिहित द्रव्यत्वदेवता के प्रसादसे परिणमते रहते हैं और उनका तिरोभाव भी होता रहता है और वे सदैव सत् रहा करते हैं।

पदार्थोंकी त्रिगुणात्मकता-- ये तीनों गुण, उत्पाद व्यय ध्रौव्य प्रत्येक पदार्थमें एक साथ रहते हैं। जैसे एक यह अगुली है, इसको कुछ झुका दिया तो यह बतलावो कि इस अगुलीमें कौनसी दशा बनी है? यह अगुली टेढ़ी हुई है--यह दशा बनी है और कौनसी दशा मिट गयी है? यह सीधी थी वह दशा मिट गयी है। मिट जावे सीधी दशा और हो जावे टेढ़ी दशा, फिर भी क्या यह अगुली नहीं है? तब भी वह अगुली थी और अब भी अगुली है। अच्छा अब यह बतलावो कि पहिले इस अगुलीकी सीध मिटी या टेढ़ बनी? न यह बुद्धिमें जचता है कि इस अगुलीमें टेढ़ पहिले बनी और सीध पीछे मिटी और न यह कहा जा सकता कि इस अगुलीकी सीध पहिले मिटी, टेढ पीछे बनी। इसके अगले क्षणमें जो टेढ़रूप परिणति हुई है इसीका नाम सीधका विनाश है, यहा दो बातें नहीं हैं। जो उत्तर क्षणमें परिणत होता है उसही को पूर्व पर्यायका विनाश कहते हैं। कोई पुरुष अपने

महिमानको पहुचाने जाय स्टेशन तक, वह महिमान गाड़ीमें बैठकर चला गया, वह लौट आया तो अब यह बतावो कि उन दोनोंका वियोग कहा हुआ? आप कहेंगे कि स्टेशन पर उनका वियोग हुआ था। अरे स्टेशन पर तो वह साथ ही था। वियोग हुआ और सयोगका अन्त हुआ, इन दोनोंका एक ही समय है। यों पदार्थमे आविर्भाव, तिरोभाव और सत्त्वका रहना--ये तीनों ही चीजे एक साथ होती हैं।

वस्तुस्वरूपके सम्यग्ज्ञानसे मोहका प्रक्षय-- अब बताओ भैया! जब समस्त पदार्थ अपने आविर्भाव, तिरोभाव और सत्त्वसे सम्पन्न हैं तो फिर किसी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ कैसे अधिकारी होगा और किसीका दूसरा कैसे कुछ लग जायगा? हम आप एक जानदार पुरुष हैं इसलिए मकान और सम्पदा इत्यादिको गाली दे रहे हैं कि यह मेरा है। ठीक है। पुण्यका उदय है, सो उन्हें अपना मान रहे हैं। वे यदि जानदार होते तो वे भी कह देते कि यह पुरुष मेरा है। आप कितनी ही कल्पना करे कि मकान मेरा है, सम्पदा मेरी है, फिर भी न मकान आपका हो सकता है, न सम्पदा आपकी हो सकती है। स्वरूपमे अन्याय नहीं है। भेदविज्ञान से वासित यह अवबोध इन आगमोसे उत्पन्न होता है। जब यह सम्यग्ज्ञान प्रकट हो तब ही पर-वस्तुवोसे उपेक्षा करके अपने आपमें रमने, लगने, मग्न होनेका आचरण किया जा सकता है। इस कारण यह सम्यक्चारित्र इस ज्ञानमें नियत हैं।

ज्ञानका माहात्म्य-- ज्ञानका बड़ा चमत्कार है। अज्ञानी जीवके दुर्धर तप करके करोड़ों जन्मोंमें भी जितने कर्म झड़ सकते हैं उतने कर्म यह ज्ञानी अपने ज्ञानके बलसे, ज्ञानमग्नताके बलसे क्षण मात्रमें नष्ट कर सकता है। सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञानके बिना हो नहीं सकता है। और इस सत् आचरणमें ही यह सामर्थ्य है कि भव-भवके सचित कर्म नष्ट हो जायें। कर्मोंका विनाश उन्हें देख-देखकर, खोज खोजकर नहीं किया जा सकता है। वे परवस्तु हैं, उन पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है। जीवने रागद्वेपका भाव बन्धन किया था, उसका निमित्त पाकर ये कार्माणवर्गणायें स्वय कर्मरूप बन गयी थीं। न उस समय भी मैंने इन्हें कर्मरूप बनाया था और न इस समय भी मैं इन कर्मोंका नाश कर सकता हूं। पहिले भी मैंने अपने भावों का बन्धन, भावोंका जाल गूँथा था तो जैसे इस भावका जाल गूंथनेमें हम स्वतत्र थे, इसही प्रकार ये कार्माणवर्गणायें इस जगह कर्मरूप बनने मे भी स्वतत्र थीं और तब उसके इस भावबन्धनोंका निमित्त पाकर ये कार्माण-वर्गणायें अपने ही स्वतंत्र रूपसे कर्मरूप हो गयी थीं और अब भी यह मैं आत्मा सम्यग्ज्ञानके बलसे स्वतत्र होकर अपने आपमे रमण करूँ, आचरण

करूं तो ये कर्म स्वतंत्ररूपसे इन शुद्ध भावोंका निमित्त पाकर अथवा इन कर्मोंके पोषक रागादिक निमित्त थे, उनका अभावका निमित्त पाकर ये कर्म स्वयं यहा से हट जाते हैं। मानो यहा वे कहते हैं कि अब हमारा यहां क्या काम है? यहा मेरा पोषक तत्त्व ही नहीं रहा। मेरी कौन पूछ करे? ये रागद्वेषादिक भाव ही मेरे रक्षक थे, मेरी पूछ करते थे, मुझे पालते पोषते थे। अब मेरा पालनहार यहा नहीं है, वे स्वय खिर जाते हैं। तो सम्यक्आचरणके निमित्तसे समस्त कर्मोंका क्षय होता है। जब सर्वकर्मोंका क्षय हुआ तो जीवको विशिष्ट शुद्ध आनन्दकी प्राप्ति होती है।

प्रभुभक्तिसे आनन्दप्राप्तिका विवरण—इस आनन्दकी प्राप्तिका परम्परया मूल निमित्त करण आप्त भगवान् हैं, इसी कारण हम भगवान्की श्रद्धा करते हैं, स्तुति करते हैं। इस मर्मको यथार्थरूपमें जिसने नहीं समझा है वह भगवान्को सीधा अपना कर्ता धर्ता सुखदाता दु खदाता मान लेता है। मर्म वहा यह पड़ा है कि जो प्रभुकी भक्ति नहीं करता है, प्रभुके स्वभाव का दर्शन नहीं करता है, प्रभुतासे जिसका मिलाप नहीं हो पाता है वह दु ख ही पाता है, और जो प्रभुस्वरूपमें झुकता है, प्रभुकी भक्ति करता है उसका ज्ञान सावधान रहता है और वह स्वयमेव ही आनन्द भोगने लगता है। जैसे हम दर्पणको देखते हैं, दर्पणके सामने हम अपना मुख करें तो हमें दर्पण दीखता है और एकाएक थोड़ा हर्ष होता है और अपना चेहरा देखकर कुछ मुस्कान भी आ जाती है, और मुख न करें दर्पणकी ओर तो उस प्रकार की बात हम पर नहीं आ पाती है। यह हर्ष की रेखा क्या दर्पणने उत्पन्न कर दी है। हम ही दर्पणके सम्मुख आये तो हमने अपने में हर्षकी रेखा उत्पन्न की। इसही प्रकार हम प्रभुस्वरूपके सम्मुख आयें तो अपने स्वरूपका परिचय हुआ, स्वरूपका ग्रहण हुआ, आनन्दकी प्राप्ति की, पुण्यका बध हुआ दु खसे दूर हुए। ये सभी बातें अपने आप हो जाती हैं। प्रभुसे विमुख हों तो विषयकषायोंके गंदे परिणामोंमें बसना पड़ा और उन परिणामोंमें बसने से खोटा वातावरण हुआ, पापकर्म बधा, दुर्गतियोंका सामना करना पड़ा।

प्रभुकी उपासनाका अनुरोध—प्रभु न किसीको सुख देता है और न दु ख देता है। वह तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप निज आनन्दरसमें लीन आदर्शरूप हैं। जो उनको आदर्शरूप मानकर चलते हैं, वे स्वयमेव ही सुख पाते हैं और जो उनके आदर्शसे विमुख रहते हैं वे दु·ख पाते हैं। यों हमारे आनन्द मिलने में सुखकी प्राप्तिमें निमित्त हुए आप्त, सर्वज्ञ, वीतराग हितोपदेशक भगवान्। इस कारण जो पुरुष श्री चाहते हैं, लक्ष्मी चाहते हैं, कल्याण चाहते हैं, ज्ञान चाहते हैं, इन सबका एक ही अर्थ है तो वे पुरुष अपनी भलाईके

लिए ऐसे आप्तदेवका आश्रय करें, अर्थात् प्रभुकी ओर आयें। हम आपकी दिनचर्यामें दिन होनेके बाद सबसे पहिले नहा धोकर मंदिर आना, प्रभुमूर्ति के सम्मुख खड़े होकर प्रभुका ध्यान करना, यह चलता आया है। क्योंकि हमारे सुखोंका मूल निमित्त कारण यही प्रभु हैं। इनकी मूर्तिको देखकर उस प्रभुकी याद आती है। इस कारण यह मूर्ति भी व्यवहारमें पूज्य मानी गयी है। यों सुख चाहते हो तो हर प्रकारसे इस आप्त वीतराग सर्वज्ञदेवकी उपासना करो।

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्ययाद्यपोढं सदा।
संवेगादिविवर्द्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदम्॥
निश्चिन्वन् नवसप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहताम्।
सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना॥१०॥

अभीष्ट कार्यके लिये श्रद्धाकी अनिवार्यता— इससे द्वितीय, पहिले छंदमें यह बताया गया था कि सुख धर्मसे होता है। इसके बाद यह भी प्रतिपादित कर दिया गया है कि उस सुखकी प्राप्तिमें मूल निमित्तकारण सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं। अब उस धर्मकी व्याख्यामें सर्वप्रथम जो परिणति आती है, उस परिणतिके सम्बन्धमें इस छंदमें जो प्रतिपादन किया है वह है धर्मका पहिला सोपान सम्यग्दर्शन। जिसके सम्बन्धमें छहढालामें भी कहा है— 'मोक्ष महलकी प्रथम सीढी या बिन ज्ञान चरित्रा। सम्यकता न लहैं सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।' यह सम्यग्दर्शन मोक्षमन्दिरकी प्रथम सीढी है अथवा धर्मपालनका मूल स्थान है यह सम्यग्दर्शन। इस निज आत्मस्वरूप का जब तक दर्शन नहीं होता तब तक हम करेंगे क्या मोक्षप्राप्तिके लिए? शाश्वत सत्य आनन्दकी प्राप्तिके लिए जो कुछ हमें करना है उसका नाम है सम्यक्चारित्र। जो करना है उसकी श्रद्धा तो पहिले चाहिए। श्रद्धा नहीं हो तो आगे कुछ किया नहीं जा सकता।

लौकिक अभीष्ट सिद्धिके लिये भी श्रद्धाकी अनिवार्यता— जितने लौकिक काम भी किए जाते हैं, वे सब श्रद्धापूर्वक किए जाते हैं। जैसे महिलाओंका रोटी बनाने का ही काम ले लो, उनमें कितनी दृढ श्रद्धा है कि रोटी आटेसे ही बनती है। कभी ऐसा वे नहीं सोचती कि कहीं ऐसा न हो कि आज आटे से रोटी न बने। जिस विधिसे रोटी बनती हैं उसका भी कितना श्रद्धान् है? श्रद्धान् है तब ही वे रसोई घरमें रोटियां बनानेमें सम्पन्न होती हैं। श्रद्धान्के बिना तो कोई कुछ भी कार्य नहीं करता है। व्यापारमें व्यापारविषयक श्रद्धान् होता है। जो श्रद्धान् नहीं किए हुए हैं उसकी चेष्टा को पागलोंकी चेष्टा कहा करते हैं। उस श्रद्धान्के सम्बन्धमें कहा जा रहा

है। आत्माको चाहिए आत्माकी मुक्ति, सर्वसकटोंसे रहित आत्मपदका अनुभवन। तो जिससे सम्वन्धित कार्य चाहिए उसका श्रद्धान् होना प्रथम आवश्यक है।

श्रद्धान्के दो प्रकार— श्रद्धान् कहो या आत्मश्रद्धान् कहो, आत्मश्रद्धान् दो प्रकारसे होता है—एक निसर्गज और एक अधिगमज। यह श्रद्धान्के स्वरूपके भेदसे भेद नहीं है, किन्तु साधनाके के भेदसे भेद है। किसी जीव को दूसरेका उपदेश मिले विना भी सम्यक्त्व स्वभावत उत्पन्न हो जाता है और किसी जीवको उपदेश आदिक का साधन मिलने पर सम्यग्दर्शन होता है। जो स्वय होता है उसे निसर्गज कहते हैं और जो परके उपदेशसे होता है उसे अधिगमज कहते हैं। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें जो ५ लब्धियां बतायी हैं उनमें देशनालब्धि भी है। कोई जीव किसी न किसीका सम्यक् उपदेश पाये, उसे सम्यक्त्व होता है। निसर्गज सम्यक्त्वका अर्थ यह है कि इस भव में उपदेश नहीं मिला, फिर भी सम्यक्त्व हो गया, किन्तु उसने पहिले कभी उपदेश पाया था किसी भवमे और उसका सस्कार वना हुआ है, जो अव इस भवमें उपदेशका साधन न मिलने पर भी सम्यक्त्व उत्पन्न किया है। दूसरा भेद है अधिगमज। परउपदेशका निमित्त पाकर सम्यक्त्व हो, उसे अधिगमज कहते हैं। यह केवल उत्पत्तिके भेदसे भेद किया गया है।

सम्यक्त्वके तीन प्रकारोंकी भूमिका व सम्यक्त्ववाधक क्रोध— निमित्त के भदसे सम्यक्त्वके तीन भेद हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शनके वाधक निमित्त हैं ७ प्रकृतिया। अनन्तानुवधी क्रोध मान, माया और लोभमिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। अनन्तानुवधी कषाय उसे कहते हैं जो अनन्त अर्थात् मिथ्यात्वका वधन वनाये। जिस कषाय मिथ्यात्वका सम्वन्ध वढे उसे अनन्तानुवधी कहते हैं। धमका प्रसग लेकर क्रोध मान माया लोभका आना, ये अनन्तानुवधी कषाय के वाह्य लक्षण हैं। धर्मकार्य करते हुए पूजन स्वाध्याय अथवा धर्मात्मावोंकी व्यवस्था धर्म चर्चा करते हुए किसी कारणसे क्रोध उमड आये व ऐसे क्रोध की प्रकृति बनी रहे तो यह अनतानुबंधी क्रोध है। क्योंकि उस जीवने धर्म का भी आदर नहीं किया, धर्मको भी कुछ नहीं समझा। जैसे पूजा करनेमें ही कोई कहे कि तुम यहा मत पूजा करो, कल हम यहा खड़े थे, यहा से हट जावो, ऐसी कुछ भी वात आए तो ये अनन्तानुवधी क्रोधके लक्षण हैं। यह एक लक्षण बताया है। ऐसे ही बहुतसे लक्षण होते हैं। इस जीवमें धर्म का स्वरूप समाया हुआ न था। उसने अपने विकल्पमें पर्यायबुद्धि की थी, ऐसी वासना होने के कारण उसे क्रोध उमड़ आया है।

सम्यक्त्वबाधक मान, । माया व लोभ— धार्मिक प्रसंगमें घमंड आ जाना अनन्तानुबंधी मान है । जैसे सधर्मीजनोंके बीच बैठे हों, एक मानके आसनसे, उस धर्मके प्रसंगमें अपनेको महान् जताना यह अनन्तानुबन्धी मान है । ये संसारकी वृद्धि करने वाली कषायें हैं । धर्मके मामलेमें मायाचार बना रहना, किसी संस्थाकी सेवामें, मंदिरकी व्यवस्थामें या धर्मात्माओं की सेवामें ऐसे धर्मप्रसंगोंमें मायाचार रहना, छल कपट रहना यह अनन्तानुबंधी माया है । कोई बड़ा सेवाभाव दिखाये और अंतरङ्गमें कोई स्वार्थवासना हो, या अन्य कोई धर्मप्रसंगमें छल कपट हो यह अनन्तानुबंधी माया है । जैसे एक कथानक आया है कि किसी चोरने किसी सेठके चैत्यालयसे मणिरचित छत्र चुरानेके लिए त्यागीका भेष रखकर पहिले विश्वास जमा दिया और फिर मौका पाकर वह चुराकर चला गया । ऐसी अनेक घटनाएँ गृहस्थजनोंमें भी समाई हो सकती हैं । यह सब अनन्तानुबंधी माया है और धार्मिक कार्योंकी आवश्यकता समक्ष होते हुए भी अपनी सामर्थ्य होकर भी उसमें उदारता न लाना, तृष्णाभाव रखना यह अनन्तानुबंधी लोभ है ।

सम्यक्त्वके तीन प्रकार-- यों चार कषायें और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति–ये तीन दर्शन मोहनीय, ये सात प्रकृतियां सम्यक्त्व में बाधा देने वाली हैं । इन ७ प्रकृतियोंका उपशम हो अर्थात् ये दब जायें, उदय अथवा उदीरणामें न आ पायें, ऐसी स्थितिका निमित्त पाकर औपशमिक सम्यक्त्व होता है । अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके अथवा जिसने सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृतिकी उद्वेलनाकी हो--ऐसे जीवके ५ प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है । इन्हीं ७ प्रकृतियोंमें ६ प्रकृतियां तो हैं सर्वघाती, जिन ६ के उदयमें सम्यक्त्व रंच भी नहीं रह सकता और एक प्रकृति सम्यक्प्रकृति नामकी देशघाती है, वह सम्यक्त्वमें चल मलिन अगाढ़ दोष उत्पन्न करती है । इन ७ में से ६ प्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय व उपशम हो और सम्यक् प्रकृतिका उदय हो--ऐसी स्थितिमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है । उन्हीं ७ प्रकृतियोंका जब मूलतः क्षय हो जाय तो क्षायिक सम्यक्त्व होता है । ये तीन भेद निमित्तनैमित्तिक कारणके भेदसे भेद किए गए हैं ।

सम्यक्त्वका परिचय– अब कुछ सम्यक्त्वके स्वरूप पर दृष्टि कीजिए । सम्यग्दर्शन सम्यक् मायने भली प्रकारसे दर्शन, मायने दिख जाना । अपने आपका आत्मा अपने आपके उपयोगमें भली प्रकार सही तौरसे दिख जाये इसका नाम सम्यग्दर्शन है । यहां दिखनेका अर्थ आंखोंसे दिखना नहीं है । आत्मा आंखोंसे नहीं दिख सकता है, किन्तु आत्मामें तन्मय एक चैतन्यगुण

है, उस चेतनाके दो प्रकारसे भेद हैं— ज्ञान और दर्शन। उनमें ज्ञान गुणके द्वारा तो यह आत्मा जाना जाता है और दर्शन गुणके द्वारा यह आत्मा दृष्ट होता है। दर्शन से जैसा सही आत्मा दृष्ट हुआ, उस ही प्रकारका प्रत्यय हो जाय, श्रद्धान् हो जाय कि यह ही मैं हू, इसका नाम है सम्यग्दर्शन।

अपने आपके सम्यक् दर्शनकी उपयोगिता— जगत्के जीवोंने अपने आपको नानारूप माना है—मैं मनुष्य हू, पशु हू, पक्षी हू, धनिक हू, पढा लिखा हू, विद्वान् हू, इतने परिवार वाला हू, नाना रूपोंमे अपनेको अनुभव किया है और इन विविध अनुभवोंके परिणाममें इस जीवने अनेक कुयोनियोंमें जन्म लिया है। जो मैं हू सो नानारूप नहीं हू। मैं कुछ भी होऊँ एक रूप हू, अपने आप सहजस्वभावसे मैं जिस किसी भी रूप होऊँ, एक रूप ही होऊँगा। वह मै इसी रूप कहीं हू–इसका दर्शन निर्विकल्परूपमें होता है। इसकी दृष्टिके लिये पुरुषार्थ इस प्रकारका करना चाहिए, अपने आपको यों निरखे कि मैं अकेला कैसा हू, मेरे साथ जो दूसरी चीजका सम्बन्ध है उस सम्बन्धको अपने उपयोगसे हटा दीजिए। मैं यह भी नहीं हू तो मैं कैसा हू? ये कर्म और कर्मके प्रभावरूप ये रागादिक भाव ये सब मैं नहीं हू तो मैं कैसा हू? मैं एक जाननहार पदार्थ हू, जानन देखनका मेरा स्वभाव है। यह मैं प्रतिभासात्मक तत्त्व हू। उस प्रतिभास स्वरूपका अनुभवन होना यही तो सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्वमें देवमूढता व गुरुमूढताका अभाव— सम्यग्दर्शनमें मूढता और रूढ़िवादका स्थान नहीं है। मूढतामे कितने ही प्रकार होते हैं। जो यथार्थ देव है, आप्त हैं उनको न मानकर, देव नाम रख कर किसी भी रागी द्वेषी आत्माकी मान्यता रखना, उसे अपना आदर्श मानना, उसे पालनहार मानना यह भी मूढता है। गुरु जैसे हुआ करते हैं, जिनके आरम्भ नहीं परिग्रह नहीं है, ज्ञान ध्यान और तपस्यामें ही जिनका उपयोग लगा है ऐसे जो गुरु हैं, उनका जो कुछ भी स्वरूप बताया है, उस स्वरूपको तजकर गप्प मारने वाले, अफीम, गाजा, चरस आदिका प्रयोग करने वाले, नानाप्रकारके भेष रखने वाले और चित्तमे छल कपट रखकर महतता रखने वाले जो गुरु स्वरूपसे विपरीतस्वरूप वाले हैं उनको गुरु मानकर पूजना मानना यह भी मूढता है।

सम्यक्त्वमें लोकमूढताका अभाव— लोकमें अनेक अविवेक पूर्ण रूढ़िया भी चलती हैं, रास्ता चलते जातेमें कोई पत्थरोंका ढेर मिल गया या कोई साधारण चबूतरा सा बना मिल गया तो वह देवताके रूपमें प्रसिद्ध हो जाता है। कोई देहाती पुरुष अपने पुत्रका विवाह करके घर जा रहा था

तो घर जाते-जाते करीब ५० नारियल उसके खर्च हो जाते हैं। कोई भी चबू-रा मिला, कोई भी पत्थरोंका ढेर मिला तो उसे देवता मानकर उसपर नारियल फोडकर चढा देते हैं। कभी मन कच्चा रह जाय या कोई शका हो जाय तो दिल भी ऐसा भयभीत हो जाता है, कमजोर हो जाता है कि अटपट प्रवृत्ति वह करने लगता है। लोग समझते हैं कि इसे कोई देवता लग गया है। परेशानी मच जाती है। धर्मके नाम पर पहाड़ोसे गिरकर मरे, नदी में गोते लगावे, जलती हुई अग्निमे कूद पडे, इस प्रकारकी अनेक रूढियां धर्मके नाम पर फैली हुई हैं। इन मूढतावोंमे सम्यग्दृष्टी नहीं फसता है। वह तो अपने आपमे स्थित निज ब्रह्मस्वरूपकी श्रद्धा कर लेनेके कारण यह जानता है कि ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप जिसके प्रकट हुआ है वह तो देव है और इस ज्ञानानन्दस्वरूपके प्रकाशमे जो यत्न कर रहा है वह गुरु है। वह मूढतावोंसे रहित होता है। यह ही सम्यग्दर्शनकी कुछ पहिचान है।

सम्यग्दृष्टिकी भवभयभीतता— सम्यग्दृष्टि जीव ससारके सकटोसे भयभीत रहता है। रागद्वेष मोह सकल्प विकल्प आदि सकटोंको यह नहीं चाहता। सम्यग्दृष्टी इन वाह्य सकटोंसे रच भी भय नहीं खाता है। कोई शत्रु आये, कोई क्रूर जानवर सतावे तो उसका उसे भय नहीं होता है, उसको मात्र ज्ञेय मानता है कि यह भी एक स्थिति है। यदि इस देहमे आत्मीय बुद्धि आ जाय तो उसे वह सकट समझता है उसे तो केवल आत्मस्वरूपकी आराधना ही चाहिए अथवा धर्ममें उसका अनुराग बढा हुआ है। जिसको धर्ममें अनुराग होता है उसकी पहिचान यह है कि धर्मात्मा पुरुषोंमे भी उसके अनुराग होता है। धर्म धार्मिकोंको छोडकर अन्य कुछ नहीं है। जो धर्ममय जीव हैं, जिनके धर्मका विकास है, वे ही तो धर्ममूर्ति हैं।

सम्यग्दृष्टिका प्रशमगुण— प्रशम सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण सम्यक्त्वकी पहिचान हैं। जो सम्यग्दृष्टि है उसके प्रशमगुण वर्तता रहता है। कोई जीव अपराध करे, इसे कष्ट पहुचाये अथवा प्रतिकूल वचन बोले उसको तुरन्त क्षमा कर सकता है ऐसी उसमे योग्यता होती है।

सम्यग्दृष्टिके सवेग और अनुकम्पा— यह प्रकृत्या धर्ममें और धर्मात्माजनोंमें अनुराग रखता है, और किसी दुःखित पुरुषको देखकर इसमें अनुकम्पा जगती है। अनुकम्पा किसे कहते हैं ? अनु मायने अनुसार, कम्प मायने कप जाना। दूसरेको दुःख है, जैसा, वह दूसरा अपने दुःखमें क्लेश मान रहा है तो उसके अनुसार, कुछ यहां भी क्लेश उत्पन्न हो। परमार्थत· कोई जीव किसी दूसरेकी मदद नहीं करता है। कोई पुरुष मोहसे, रागसे पीड़ित होकर परिजनों की सेवा-किया करता है तो करुणामें भी यह

बात है कि विवेकके कारण दु:खी जीवको देखकर हृदयमें वेदना उत्पन्न होती है, तो वेदना शान्त करने के लिए उनका दु:ख मेटते हैं। फर्क इतना है कि यह मोही जीव विषयकषायोंमें अंधा होकर मोहरागवश परिजनोंकी सेवा करता है और यह विवेकी ज्ञानी पुरुष विवेक बलसे जगत्के जीवोंकी सेवा करता है।

सम्यग्दृष्टिका आस्तिक्य— इसमें आस्तिक्य गुण भी है। आस्तिक्य उसे कहते हैं जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा स्वीकार कर लेना। जो वैसा न माने वह नास्तिक। नास्तिकका अर्थ यह नहीं कि जो जिस धर्मका है उसे न माने, उसके शास्त्र न माने सो नास्तिक। यों तो सभी कह सकते हैं कि यह नास्तिक है, पर नास्तिक उसे कहते हैं जो वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा न माने। आत्मा है उसे न माने उसे नास्तिक कहते हैं। आत्मा शाश्वत है। जैसे आज इस लोकमें हैं, इस भवको छोड़कर फिर परलोकमें भी किसी प्रकार होंगे, पर जो न माने ऐसा उसका नाम नास्तिक है। यह सम्यग्दृष्टि जीव आस्तिक्य गुणसे भरा हुआ है और प्रभुका जो स्वरूप है उसकी ऐसी दृढ़ प्रतीति है जिससे सम्वेगमें भक्तिमें लगे रहने का यत्न उसके रहता है। उसे चैतन्यस्वरूप प्रभुकी भक्तिके सिवाय अन्य कुछ भोगनेमें नहीं आते हैं। प्रभुभक्ति या आत्मध्यान याने आत्मविकासकी ओर उसका यत्न है। परिवार अथवा अन्य झगड़े उसकी दृष्टिमें आस्थाके योग्य नहीं हैं। यह सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनी आस्थामें इस सम्यक्त्वको धारण करता है। संसारके जन्म मरण इत्यादिके समस्त संकटोंको मिटा देनेकी सामर्थ्य इस सम्यक्त्वमें है।

सम्यक्त्वमें ज्ञानशुद्धि— सम्यक्त्व होने से पहिले इस जीवके ज्ञान कुमतिज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और कुअवधिज्ञान कहलाते हैं किन्तु सम्यक्त्व होते ही उस ज्ञानमें शुद्धि आ जाती है और वह सम्यक् बन जाता है। श्रद्धान्से पहिले ज्ञान चाहे सही भी हो रहा हो, किन्तु उसमें दृढ़ता नहीं है। इसलिए वह सम्यक् नहीं कहलाता है। श्रद्धान् होने पर दृढ़ता हो जाती है और वह सम्यक कहलाता है। जैसे मिश्री खानेसे पहिले खूब उसका वर्णन करते जायें, ज्ञान भी उस मिश्रीके बारेमें सही है, लेकिन दृढ़ता कुछ नहीं है। जब मिश्री खाई तो समझमें आया कि ओह यों मीठी मिश्री होती है। उसे मिश्रीका ज्ञान बिल्कुल स्पष्ट आ जाता है। ऐसे ही आत्माके सम्बन्धमें सब बातें करना जानते हैं, चर्चा करते हैं, युक्ति लड़ाते हैं किन्तु जिनको शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वका अनुभव नहीं जगा है उनको यह समस्त ज्ञान अभी कुज्ञानरूप है। अनुभव जगता है तो यह ज्ञान सम्यक्रूप हो जाता है। इसी प्रकार श्रद्धान्के सम्बन्धमें यह कुछ प्राथमिक वर्णन चल रहा है। यह

सम्यग्दर्शन मोक्षमहलका प्रथम सोपान है। इस ही सम्बन्धमें अब आगे कुछ कहेंगे।

श्रद्धान्मे मूल दो तत्त्व— जो विनेय विद्वान् लोग हैं अर्थात् आगमके मर्मको ग्रहण करने के पात्र जो बुद्धिमान् जन हैं उनके लिए सर्व प्रथम आराधने योग्य आराधना सम्यग्दर्शन है। मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत ९ तत्त्वों का अथवा ७ तत्त्वोंका यथार्थ निश्चय करना सो सम्यग्दर्शन है। मुक्त होना है जीवको, हम आपको। जीवको किससे मुक्त होना है? जो जीव नहीं है उससे मुक्त होना है, क्योंकि अपने को या किसी भी पदार्थको कष्टमें डाल सकने वाला निमित्तरूपसे परपदार्थ होता है। मै जीव हूं तो जो कोई अजीव हो ऐसा विशिष्ट पदार्थ ही मेरे बन्धनका कारण हो सकता है, उससे हमें मुक्त होना है। मुझे मुक्त होना है और अजीवसे मुक्त होना है, इस प्रकार दो तत्त्व तो प्रथम ही आ गए—जीव और अजीव।

आस्रव और बन्ध— इस जीवमें अजीव आया है तभी तो ये जीव विपरीत आशय कर रहे हैं और ये अजीव जीवमे बँध कर रह रहे हैं। आये बिना रहना किसे कहोगे? कोई आये नहीं और रह जाय यह कैसे होगा? जो कोई बाह्य तत्त्व ठहर जाय उसका आना तो पहिले ही होता है। यों जीव में अजीव का आना इसका नाम है आश्रव और जीवमें अजीवका ठहरना इसका नाम है बध। अब इस अजीवसे इसे छुटकारा पाना है यह है ससार की स्थिति, विपन्न परिस्थिति। इसमें दो तत्त्व आ गये—आश्रव और बंध। यहा तक तो ससारमार्गकी बात कही गयी है, अब मोक्षमार्गकी बात चल रही है।

संवर, निर्जरा व मोक्ष— भैया! हमें होना है मुक्त। किससे? अजीवसे। तो पहिला उपाय यह है कि अजीव और न आये और न ठहरें, नहीं तो नवीन कर्म आते रहे तो पूर्व ठहरे हुए अजीव को छुडाकर हटाकर हम मुक्त कैसे हो सकते हैं? प्रथम तो ऐसा होता नहीं है कि ये कर्म आते रहें और इन्हें छुडाते रहें। एक दृष्टिसे कहा जा रहा है। बाहुल्यकी दृष्टिसे कर्मोंका आना विशेष बना रहे और कर्मोंका झड़ना भी थोड़ा साथ चलता रहे तो इससे मुक्ति निकट नहीं आ सकती। जैसे कोई दूसरेसे ऋण लेता रहे और अन्य दूसरेका ऋण चुकाता रहे तो वह ऋणसे कभी मुक्त नहीं हो सकता है। ऋणसे मुक्त तो तब ही सकेगा जब कि वह दूसरे से ऋण न ले और ऋण चुकाता रहे। तो जिसे मुक्त होना है उसे प्रथम आवश्यक है कि नवीन कर्म उसके न आएँ और बद्धकर्मोंको धीरे धीरे खिराये। जब सभी कर्म धीरे धीरे झड़ जायेंगे तब मोक्ष होगा। इस तरह उपादेय सवर निर्जरा

व मोक्ष—ये तीन तत्त्व आये। मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत ये जीवादिक ७ तत्त्व जानने योग्य हैं। उन्हीं सातोंमें से आश्रवके २ भेद कर दिये जाते हैं—पाप और पुण्य, तो ये ६ कहलाने लगते हैं। इन ६ तत्त्वोंका यथार्थस्वरूपका निश्चय रहे वहा सम्यग्दर्शन होता है।

मुमुक्षुवोंकी आद्य आराधना— जिन जीवोंको इस अचल मोक्ष प्रासादपर चढ़ना है, जिससे कभी अनन्तकाल तक भी चलित नहीं हुआ जा सकता है—ऐसा जो यह शुद्ध उत्कृष्ट मोक्षपद है उसमे जिनको चलने की इच्छा है उनको सर्वप्रथम यह सम्यक्त्वकी आराधना धारण करनी चाहिए। इस जीवको सम्यक्त्व नहीं है इसलिए दर-दर आशा लगा-लगाकर भीख मागता हुआ अपनी दुर्दशा भोग रहा है। जैसे किसी गरीबके कपडेमें लाल बँधा हो और उसे पता न हो कि मेरे कपडेके खूँटमे लाल बँधा है तो वह तो गरीबीका ही दु ख भोगेगा। यद्यपि अपने ही कपडेके खूंटमें लाल बँधा है, किन्तु उपयोगमें तो नहीं है, इस कारण वह दरिद्रताका ही दु ख भोगता है। कोई मनुष्य चिकने चोपडे उजेलेमें बैठा हो और जिस वस्तुको ढूँढना है वह अधेरेमें पड़ी हो तो वह मनुष्य उस वस्तुको जान नहीं सकता। यद्यपि वह चिकने चोपडे जाज्वल्यमान् उजेलेमें बैठा है, किन्तु जिस चीजको ढूँढना है वह अंधेरेमे है, उसको वह देख नहीं सकता। किसी पुरुषकी लौकिक वर्तमान वातावरण स्थिति अधरेकी हो, अंधेरेमें बैठा हो, फिर भी प्रकाश में रहने वाली चीजको वह भली भाति देख सकता है। यों ही इस दुनियाके चमत्कारिक इन प्रतिष्ठासम्पदा आदिके जालोंमें कोई पुरुष मस्त रहता हो किन्तु जो परखनेकी चीज है, जिसके आश्रयसे ये समस्त कलक दूर होते हैं, शुद्ध आनन्द प्रकट होता है। वह तो अभी अधेरेमें ही है, उसे कहा खबर आएगी। जैसे वह दरिद्र कितनी कठिनाईकी परिस्थितिमें है, खानेको भी भली प्रकार नसीब नहीं होता, फिर भी यदि इसका तत्त्व परमात्मस्वरूप ज्ञान प्रकाशमें पड़ा है तो भी यह मोक्षमार्गको पा लेगा।

अमोघ अमूर्त घन आश्रय— यह ज्ञानी अपने अन्दरमें मूलसे निराकुल बना हुआ है। जब कि एक सम्पन्न पुरुष जिसको शरण सारभूत सतोषकारक तत्त्व नहीं दिख रहा है। वह बाहरमे हंसता हुआ भी अन्तरमें आकुल बना हुआ है। उसकी हंसी, उसकी मौज केवल बनावटी है। भीतर में तो उसे विह्वलता बनी हुई है। अपने आपके स्वरूप का दर्शन इतना उत्कृष्ट वैभव है, जिसकी तुलना तीन लोकके वैभवसे भी नहीं की जा सकती है। मनुष्य धन सम्पदाकी होड़में दौड़ रहे हैं, किन्तु ऐ मनुष्य! यदि सुखी होना है तो धन वैभवकी होड़के लिए दौड़ मत कर। कुछ ठहर,

अपने आपमें निरख। जितने भी सुख आनन्द संतोष निकलते हैं, वे तेरे इस आनन्दनिधिसे ही निकलते हैं। बाहरमें सुख है—ऐसा भ्रम न कर। एक अपने आपकी सिद्धिमें सब अर्थोंकी सिद्धि हो जाती है। एक निष्काम, निश्चल ज्ञान प्रकाशमात्र अपने आपका विश्वास होने पर समस्त अभीष्टों की सिद्धि हो जाती है। वह कैसे? इस निरुपमे आनन्दकी अनुभूतिके बाद फिर उसे जगत्‌मे किसी अन्य तत्त्वकी, भावकी पदार्थकी चाह नहीं रहती है।

इच्छापूर्तिका मर्म— भैया! इच्छा पूरी होना किसे कहते? जैसे बोरोंमे गेहू भरते हैं, उस तरहसे इच्छाओंको ठसाठस भरनेसे क्या इच्छा पूर्ण हो जाएगी? अरे! इच्छाका अभाव हो जाना, इसका नाम इच्छाकी पूर्ति है। इच्छा पूर्ण होनेका अर्थ इच्छाका नाश होना। इच्छाका नाश होना इस शब्दको व्यवहारीजन उपयोगमे नहीं लेते। अर्थ सही है। किसीको किसी चीजके देखनेकी चाह हो और दिल भरकर देख ले। देख चुकनेके बाद अब देखने से विश्राम लिया। वह कहता है कि मेरी इच्छा पूरी हो गयी, मतलब यह है कि अब उसके इच्छा नहीं रही। जब तक इच्छा थी, तब तक क्लेश था, जब तक इच्छा पूरी न हुई थी, पूरी होनेका अर्थ नष्ट होना है। लोग कहते है कि अब हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी है। तो क्या भर भरकर इच्छा पूर्ण हो गयी? नहीं। मिट मिटकर पूर्ण हो गयी। जब इच्छा बिल्कुल नहीं रही तो कहते हैं कि अब हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी है। जब तक यह इच्छा अधूरी थी, तब तक कष्ट था। अगर यह इच्छा और भर जाय, हमारे आत्मामे जिसको हम इच्छाका पूर्ण होना कहे, तब तो हमारी विपदाका ठिकाना न रहेगा।

संकटविपाकी दवा — यह इच्छा मिटती है तो मनुष्यको चैन मिलता है। जब तक इच्छा रहती है तब तक चैन नही है। जैसे औषधि और दवाई ये दो चीजे होती हैं। दवा तो नाम है जो रोगको दवा दे, जड़से रोग न मिटे उसका नाम दवा है। कहीं ऐसा न हो कि योग्य चिकित्सकको पता पड़ जाय, सो रोगीको ऐसी दवा पिलावो जिससे रोग अच्छी तरहसे इसके अन्दर बना रहे। रोग बना रहे, नष्ट न हो, यह है दवाका काम। जबकि औषधिका काम है कि उस रोगको मूलसे नष्ट करदे, रहे नहीं। ऐसे ही इच्छाका विषय भोगकर इस इच्छाको दवा दिया जाय तो थोड़ी देर चू कि इच्छाका व्यक्तरूप सामने नहीं है, इसलिए कुछ सुख मालूम होता है, लेकिन भोग भोगना उस इच्छारोगको नष्ट करनेकी औषधि नहीं है, किन्तु इच्छा रोगको दबा देनेकी एक दवा है।

इच्छारोगकी औषधि सम्यग्ज्ञान-- किसी प्रकारके भोगोंकी इच्छा हो, विषय भोगने लगे, उस भोगके कालमें अथवा पश्चात् उसे कुछ सुख मालूम हुआ, तो वह सुख किसका है ? भोगका नहीं है। जो इच्छा सता रही थी उस इच्छाका दबाव हो गया है। अभी उस भोगसे इच्छाका रोग मिटा नहीं है, दब गया है, और दबी हुई चीज फिर समय पर बहुत बुरी तरहसे उखडती है। इच्छारोगको नष्ट करनेकी औषधि सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान और वैराग्यकी परिणतिसे इच्छा रोगका मूलतः नाश होता है। तो यह ज्ञान और वैराग्य ही इस आत्माको इच्छाके जालसे बचाकर सुखमें पहुचाता है। आनन्दका परमस्थान है मोक्ष-अवस्था।

मोक्षका स्वरूप कैवल्य-- मोक्ष किसी स्थानका नाम नहीं है। यद्यपि मुक्त हुए जीव एक विशेष स्थानमें ही रहा करते हैं। जो लोकका अन्तिम भाग है वहा विराजमान रहते हैं, लेकिन वहां पहुच जानेसे वहा आनन्द मिला हो ऐसी बात नहीं है। स्थानमें पहुच जाना मुक्त होना नहीं है। जिस स्थानमें मुक्त जीव रहते हैं उसी स्थानमें अनन्ते निगोदिया जीव भी रहते हैं। जहा सिद्ध भगवान् विराजे हैं वहां अनन्त निगोदिया जीव भी रह रहे हैं, वे निराश्रित हैं, किसी अन्य शरीरके आधारसे नहीं हैं, सूक्ष्म निगोद हैं। उनके दुःख उतना ही है जितना कि यहाके निगोदिया जीवोंको है। अतः किसी स्थान विशेष पर पहुच जानेका नाम मोक्ष नहीं है, किन्तु अजीवसे और अजीवके कारण उत्पन्न हुए रागादिक विकल्पजालोंसे छुटकारा पा लेनेका नाम मोक्ष है। यों ७ तत्त्वोंका जहा यथार्थ-निश्चय होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यक्त्वमें अशुभगति वाली आयुके बन्धका अभाव-- यह सम्यग्दर्शन कल्याणार्थी पुरुषोंके लिए प्रथम आराधना है। जहां सम्यक्त्व जग जाता है, सम्यग्दर्शनकी स्थितिमें तो वह पुरुष नरक आयुका बन्ध नहीं करता है। सम्यग्दर्शनकी स्थितिमें मनुष्य हो तो देव-आयुका ही बन्ध करेगा। देव सम्यग्दृष्टी हो तो कर्मभूमिज मनुष्यकी आयुका ही वह बन्ध करेगा। तिर्यंच और नरक आयुका बन्ध सम्यग्दर्शनमें नहीं होता है। तिर्यंच भी सम्यग्दृष्टी हो तो वह भी देव-आयुका ही बन्ध करेगा सम्यग्दर्शन रहते हुएमें। नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो तो वह मनुष्य-आयुका ही बन्ध करेगा। सम्यग्दृष्टि जीव फिर दुर्गतिको प्राप्त होता है। यह बात दूसरी है कि ऐसे अनुपम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके प्रमादवश उसे खो दें, फिर मिथ्यात्वको ही अपनालें तो उसकी दुर्गति प्राकृतिक है, किन्तु जिसे एक बार सम्यक्त्व हुआ वह नियमतः मुक्तिको प्राप्त करेगा। सर्वोत्कृष्ट वैभव है सम्यग्दर्शन।

मोहमें आनन्दके लक्ष्यका परिवर्तन— भैया ! इस जीवको आनन्द ही तो चाहिए। यदि इस आनन्दकी झलक समस्त परिग्रहोके त्याग करनेमे, समस्त परपदार्थोंके भूल जानेमें उनका उपयोग छोडकर एक केवल निजका उपयोग रखनेमें लगता है तो ऐसा करनेमें तुझे क्या कष्ट है ? कौनसी कठिनाई है, क्या बुराई है। कोई ऐसे भी होते होंगे कि धर्मध्यान करते हुए, आत्मध्यान करते हुए उनका मन लग जाय आत्मस्वरूपकी ओर झुकनेमे तो झुकते हुएमें थोड़ी ही कसर रह गयी थी कि अनुभव हो जाता, आनन्द मिल जाता, इतनेमे ही फिर ऐसा चिन्तन आ जाय कि ओह ! कही ऐसा न हो जाय कि इसमें ही गड़गप्प हो जायें, तो फिर घरके लोग कहा जायेंगे ? उनका क्या हाल होगा ?

मोहमें भिखारीपनकी प्रकृति— अरे ! कितना मोहका विष अन्तरमें पड़ा है कि उत्कृष्ट विभूतिका समागम होनेको था और इन्हीं बासे तिबासे कितने ही पुराने झूठे खाये हुए, भोगे हुए अनन्त बारके झूठे भोगोको भोगने के लिए ही उत्सुक रहते हैं। जैसे किसी भिखारीको जो कि अपनी झोलीमें १०-५ दिनकी बासी रोटिया रक्खे हुए है उससे कोई सेठ कहे— अरे ! तू इन बासी, तिबासी, दसबासी रोटियोंको फेक दे, मैं तुझे ताजी पूड़ियां खिलाऊंगा तो उसे विश्वास न होनेसे फैंकना नहीं चाहता है। वह तो यही जानता है कि यदि पूडिया न मिलीं तो फिर मुझे भूखे ही रहना पडेगा। ऐसे ही इस जीवको जब थोड़ी कसर रह जाती है आनन्द मिलनेकी तो झट मोह विप का अंकुर पनप जाता है। यह भय उसे हो जाता है कि अभी तो कच्ची गृहस्थी है कहीं मेरा उपयोग न बदल जाये तो फिर घरका क्या होगा ?

आत्माश्रयमें सर्वतः लाभ— जिस जीवने एक बार भी परम विश्रांत होकर अपने आत्मीय आनन्दका अनुभव किया है। उसका इस लोकमे भी जीवन आनन्दसे व्यतीत होनेमे सुगम मालूम होता है और परलोकमे भी प्रकाश पाते रहना और अपनी उन्नतिके पथ पर चलते रहना यह सुगम मालूम होता है। यदि दुहरा लाभ हो रहा हो तो उस लाभसे क्यों मुडना ? धर्मकी प्राप्तिसे दुहरा लाभ मिलता है, एक तो पाप क्षीण होते हैं, लौकिक समागम बढ़ते हैं और बीच बीचमें आत्मानुभव कर करके आत्मबलको पुष्ट कर लिया जाता है। फिर सासारिक कितने भी सकट इस पर आये उनको हँस हँसकर झेलनेकी इसमे ताकत हो जाती है। जो मनुष्य सकट नहीं सह सकते, समतापूर्वक हस हसकर इन काल्पनिक सकटोंको नहीं सह सकते, वे शुद्ध आनन्दको भोगनेके पात्र भी नहीं हो सकते ।

संकटोंकी कल्पना— भैया ! संकट तो कुछ हैं ही नहीं इस जीव पर।

ममताने संकटोंकी दृष्टि बनायी है। संकट कुछ नहीं हैं, संकटोंकी सृष्टि मायासे हुई है और आनन्दकी सृष्टि ब्रह्मसे हुई है। इसका और मर्म ही क्या है? जहां माया और कल्पना बस रही हैं, वहां सारे संकट ही संकट हैं। एक चीज प्रसिद्ध चली आयी है हउवा। माताएं बहुत जानती हैं, जब बच्चा रोता है तो मां कहती है कि अरे! चुप रह, नहीं तो हउवा आ जायगा। अरे! हउवा क्या चीज है, क्या किसीने कभी उस हउवेको देखा है? उसके कितने हाथ होते हैं, कितने पैर होते हैं? है कुछ नहीं, पर कल्पनासे मान लिया है, ऐसे ही यहां संकट कुछ भी नहीं हैं, पर कल्पनासे अनेक संकट अपने ऊपर इस जीवने लाद लिये हैं और उन्हीं काल्पनिक दुःखोंसे सभी दुःखी हो रहे हैं।

धर्मपालनमें सम्यक्त्वका प्रथम स्थान— जो पुरुष निःसंकट क्लेशरहित आत्मस्वरूपका अनुभव करता है, उसके सम्यग्दर्शन होता है। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष महल पर चढ़ने वाले विनेय विद्वान् पुरुषोंको प्रथम सीढ़ी के समान काम देता है। जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब तक धर्मका आरम्भ नहीं होता। जब तक शुद्ध आनन्दमय स्थितिकी झलक नहीं होती है, तब तक मोक्षकी प्राप्तिके लिए उत्सुकता नहीं जागती। यों धर्मपालनमें सम्यग्दर्शनकी प्रथम आवश्यकता जानकर ग्रन्थके आदिमें श्रद्धान्का संकेत किया है।

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढे च ॥११॥

निमित्तादिकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शनके भेद— श्रद्धान्के दश प्रकारोंका जो संकेत किया था, उन दश प्रकारोंका इसी छंदमें वर्णन है। सम्यक्त्व तो एक ही प्रकारका है। विपरीत अभिप्रायरहित अन्तरतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान् होना, सो यही सम्यग्दर्शन है। इसके स्वरूपमें कोई प्रकार नहीं है। जिस भी जीवके सम्यग्दर्शन होता है, उसे इस ही एक अन्त स्वरूपका श्रद्धान् होता है, किन्तु यह श्रद्धान् किन जीवोंको किस निमित्तसे हुआ है? उन निमित्तोंकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनमें भेद डाला है, जिससे लौकिक जन जान जायें कि सम्यक्त्वके ये उपाय होते हैं, इस निमित्तसे होते हैं, ऐसे जीवोंके होते हैं।

आज्ञासम्यक्त्व— सम्यक्त्वके इन भेदोंमें प्रथम भेद है आज्ञासम्यक्त्व। कितने ही पुरुष जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा मानकर उनके वचनोंको शिरोधार्य करके अपनी श्रद्धा पुष्ट करते हैं। जैसे कोई श्रद्धालु इस प्रकारके भी देखे गये हैं कि जिन्हें तत्त्वचर्चाका कुछ ज्ञान नहीं है, किन्तु विनयभाव,

श्रद्धाभाव, भक्तिभाव, वीतरागदेवको छोड़कर किसीको न माननेका दृढ़ सकल्प है। कोई सत्यशास्त्रोंको जो भी उसकी कल्पनामें आये हैं, जिनका नाम सुना है, जो परम्परासे चले आये हैं, उन शास्त्रोंको छोड़कर अन्य शास्त्रोंमें चूंकि उनमें रागद्वेष विषय कषाय बढ़ाने वाले ही उपदेश हैं- ऐसा मानकर उसे अन्य शास्त्रोंकी श्रद्धा नहीं होती है। गुरुविषयक श्रद्धा तो उनके बड़ी प्रबल रहती है । निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैनेन्द्रमार्गके अनुसार चर्चा करने वाले साधुजनोंको छोड़कर अन्य कुभेषी नाना प्रकारके वेषभूषा रखने वाले गुरुजनोंमें ये मोक्षमार्गके गुरु हैं- इस प्रकारकी श्रद्धा नहीं होती है। अनेक पुरुष प्रभुकी आज्ञा मानकर धर्ममार्गमें लगे हुए हैं—ऐसे जीवोंके आज्ञा-सम्यक्त्व कहा है।

मार्गसम्यक्त्वोंमें साधुमार्गके दर्शनका प्रभाव— दूसरा है मार्ग सम्यक्त्व। जैनसिद्धान्तके मार्गमें त्याग और तपस्याकी प्रधानता है। अहिंसा का जितना पालन ये साधुजन करते हैं, वह पालन किये जाने वाली अहिंसा का उत्कृष्टरूप है। भोजनका कोई साधन साथमें न रखना, यह अहिंसाका ही एक उत्कृष्टरूप है। किसीभी परिस्थितिमें अपने हाथसे भोजन न बनाना, और श्रावकके घर भी यदि यह जान जाये कि इसने केवल मेरे लायक ही और मेरे लिए ही आहार बनाया है तो उसे भी नहीं लेते। सब घरके लिए बन रहा हो, उसमेंसे कुछ ले लेना-यह सब अहिंसाका ही तो एक उत्कृष्टरूप है। जिसमें मेरे निमित्तसे किसीको बाधा न हो, पूर्ण सत्य व्यवहार होना, यह अहिंसाका ही रूप है। चोरीका तो कोई काम ही नहीं है। कदाचित् कोई चीज चुरायें भी साधु तो वह उसे धरेगा कहां? उसके पास धरनेके लिए, छिपानेके लिए कुछ भी तो नहीं है। उनका तो केवल शरीर मानों परिग्रह है। पीछी, कमण्डल और व्यवहार शुद्ध संयमके लिए रखते हैं। कुशील की तो वहां कोई बात ही नहीं है। प्रकट नग्न है, खोटे परिणाम करे तो वे सब विकार दृष्ट हो जायेंगे, फिर उसकी साधुता टिक नहीं सकती है। कितना शीलका एक व्यक्तरूप है वह। परिग्रहका भी कोई साधन नहीं है, त्याग भी सबका किया है। कैसा उत्कृष्ट है साधुओंका मार्ग?

सागारमार्गको दर्शनका प्रभाव व निश्चय मार्गकी रुचि— श्रावकजनों का मार्ग भी कितना पवित्र है। रात्रिभोजन श्रावकोंमें नहीं होता, क्योंकि वह हिंसाका साधन है। साथ ही निशा भोजनसे परिणामोंमें मलिनता उत्पन्न हो जाती है। जलमें सूक्ष्म अनेक जन्तु बताए गये हैं, कोई जल बिना छाने नहीं पीते। भगवान्की भक्तिमें; देव, शास्त्र, गुरुकी उपासनामें सावधान रहते हैं और आगे चलो तो प्रतिमाओंका रूप क्रमसे कैसा है?

दर्शन प्रतिमामें किस प्रकारका त्याग है? त्यागमें बढ़े तो कैसा क्रम क्रमसे बढते हैं। इन सबका वर्णन सुनकर और इस मार्गको आंखोंसे निरखकर सहसा श्रद्धा उत्पन्न होती है। ओह उद्धारका मार्ग है तो यह है। निश्चयसे आत्मतत्त्वका श्रद्धान् ज्ञान आचरण मोक्षका मार्ग है—इस प्रकारके मार्गको निरखकर जो सम्यक्त्व उत्पन्न हो, उसे मार्गसम्यक्त्व कहते हैं। किसी भी प्रकारसे सम्यक्त्व हो, आखिर सम्यक्त्वोंमें अन्त. बात सबमें एकसी ही आती है।

उपदेशसम्यक्त्व व सूत्रसम्यक्त्व— उपदेशसम्यक्त्व तीसरा प्रकार बताया है। तत्त्व उपदेश सुनकर तत्त्वके सम्बन्धसे श्रद्धा होना, पुराणपुरुषों के चरित्र सुनकर सन्मार्गमें झुकाव होना, यह उपदेश सम्यक्त्व है। सूत्र-सम्यक्त्व जो तत्त्वज्ञानके पोषक निरुपम सूत्र हैं, गाथाएँ हैं उन सूत्रोंको ही सुनकर श्रमणाचार प्रतिपादक आचारसूत्रोंको सुनकर उनका मर्म जानकर सम्यक्त्व होना सो सूत्रज सम्यक्त्व है। तत्त्वार्थसूत्र एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, कोई यदि यह पूछे कि जैनसिद्धान्तमें सबसे प्रसिद्ध कौनसा ग्रन्थ है, जिसका अध्ययन करके पूरा ज्ञान कर सकें तो इसका उत्तर तो यह है कि जैन सिद्धान्तमें कोई एक ग्रन्थ मुख्य नहीं बताया जा सकता है। सभी ग्रन्थ मुख्य हैं। कारण यह है कि वस्तुस्वरूपका बहुत विस्तार है। किस-किस विषयको लेकर प्रतिपादन किया जाय। अध्यात्मविषयोंके ग्रन्थ अध्यात्म ढगके मुख्य हैं। तीन लोक तीन कालकी बातें प्रकट करने वाले ग्रन्थ उस विषयके मुख्य हैं। चारित्रका निरूपण करने वाले ग्रन्थ उस ढगके मुख्य हैं। और पुराण पुरुषोंका वर्णन करने वाले ग्रन्थ अपनी दिशाके बहुत निराले और प्रामाणिक हैं। किन ग्रन्थोंका नाम लिया जाय कि जैनसिद्धान्तके प्रतिपाद्य विषयोंका जो प्रतिनिधित्व करदे। फिर भी बहुत कुछ समता लेकर प्रधानता बतानेका यत्न किया जाय, तो यह कहते सकते हैं कि एक तत्त्वार्थसूत्र व दूसरा समय-सार। यद्यपि इतनेमें भी समस्त विषय नहीं आ सकते हैं, न सभी विषयोंका दिग्दर्शन हुआ, फिर भी बहुत कुछ पूर्ति प्रतिपाद्य विषयों की इन दोनों ग्रन्थों से हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र सूत्रमें एक-एक शब्द कैसे-कैसे मर्मको प्रकट करता है? कमसे कम शब्द लिखकर कितना महान् अर्थ प्रकट किया है। ऐसा जब सूत्रविषयक मर्मका ज्ञान होता है तो एक सहसा सम्यक्त्व हुए होता है।

बीजसम्यक्त्व व विस्तारसम्यक्त्व— एक है बीजसम्यक्त्व। बीजरूप किसी शब्दको सुनकर एक बहुत विस्तृत मर्म जाननेमें आता है, वहां जो सम्यक्त्व हो अथवा दुर्गम गणितपूर्ण करणानुयोगके बीजोंकी महिमा जान कर जो सम्यक्त्व हो उसे बीजसम्यक्त्व कहते हैं। एक है संक्षेपसम्यक्त्व।

किसी प्रतिपाद्य विषयको अति संक्षेपमें सुनकर सम्यक्त्व होना। जो संक्षेप के रुचिया लोग हैं वे उस सूक्ष्मरूपको जब उपयोगमें लेते हैं तो उससे उनकी दृष्टि निर्मल होती है। एक विस्तार सम्क्यक्त्व है। द्वादशाङ्गरूप वाणीको सुनकर जो सम्यक्त्व होता है अथवा बहुत विस्तारसे वर्णन सुन कर जो सम्यग्दर्शन होता है वह विस्तारसम्यक्त्व है। एक अर्थसम्यक्त्व है। सूत्रोंका, गाथावोंका, मूल रचनावोंका अर्थ ही सुनकर अथवा अर्थके सम्बन्धसे उनका स्वरूप जानकर जो सम्यक्त्व होता है उसे अर्थसम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्वका अर्थ है समीचीनता, समीचीनता का अर्थ है जहां दोष न रहें, विपरीत आशय न रहे उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

विविध विपरीत आशय— विपरीत अभिप्राय अनेक प्रकारके होते हैं। जैसे ये समस्त द्रव्य भिन्न हैं, उन्हें यह जीव मानता है कि यह मेरा है, यह मैं हू—यह विपरीत आशय है। ये समस्त परद्रव्य अहितरूप हैं, इनके सम्बन्धसे आत्माको शान्ति नहीं मिलती है। ये पदार्थ, ये समागम जब भी कारण बनेंगे तो आकुलताके ही कारण बनेंगे। शान्तिका कारण तो अपने आपके आत्माका अवलम्बन है। शान्ति तो आत्माके आश्रयसे ही प्रकट होगी। दु:ख भी आत्माके ही आश्रयसे होता है, पर उसमें विषय परद्रव्य होते हैं, आश्रय परद्रव्यका होता है, प्रकट आत्मासे होता है, किन्तु आनन्द और शान्ति आत्मासे ही प्रकट होती है, आत्माके आश्रयसे ही प्रकट होती हैं विपरीत आशयको सक्षेपमें तीन प्रकारोंमें रक्खा है—एक स्वरूपविपर्यय, दूसरा भेदाभेदविपर्यय, तीसरा कारणविपर्यय। जितने भी विपरीत सिद्धान्त हैं वे सब इन तीनोंके विस्तार हैं।

स्वरूपविपर्यय— स्वरूपविपर्यय तो स्वरूपमें उल्टी बात समझना है, जैसे जीव है तो चेतन और माने भौतिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुसे यह जीव प्रकट होता है--ऐसा मानना स्वरूपविपर्यय है और जब पृथ्वी पृथ्वीमें मिल जाय; जल, अग्नि, वायु अपने स्वरूपमें मिल जायें, इसका ही नाम मरण है--ऐसा भी एक सिद्धान्त कहता है। जिस सिद्धान्तको चारुवाक् सिद्धान्त कहते हैं। चारु मायने मीठा वाक् मायने वचन। जिसके वचन ससारी जनोंको मीठे लगें, प्रिय लगें उसे चारुवाक् कहते हैं। धर्मकी बात संसारीजनों को अप्रिय लगती है, कठिन लगती है और गप्पें, विषयकषाय भरी बातें बड़ी रुचिकर लगती हैं। जो यह प्रतिपादन करे कि जीवसे अलग सत् कुछ नहीं है, यह तो भौतिकरूप है। ये जब तक ठीक ठिकाने मिले हुए हैं तब तक जीव है। जब ये बिखर जाते हैं तो जीव कहां रहता है ? जीव नामकी कोई चीज ही अलग नहीं है, तब क्या करना, खूब मौजसे खावो

पियो, घी शक्करकी कमी न पडे, चाहे कर्जा लेकर खाना पडे। जब यह देह भस्म हो जायगा तो कहां जीव है? परभवका यहा डर लगा दिया है। कहां परभव है, खूब मौजमे खाओ पियो—ऐसी प्रेरणा मिलती है। इस खोटे प्रतिपादनसे इस आत्माका अहित है।

भेदको अभेद करने रूप भेदाभेदविपर्यय— दूसरा विपर्यय बताया है भेदाभेदविपर्यय। जो चीज भिन्न है उसे अभिन्न बताना और जो अभिन्न है उसे भिन्न बताना यह भेदाभेदविपर्यय है। जैसे जीवसे राग न्यारा है, रागद्वेषादिक भाव जीवके स्वरूपमें नहीं हैं। प्रकट यद्यपि जीवमें होते हैं, जीवके ही चारित्रगुणके विभावपरिणमन हैं तिस पर भी मात्र जीवके सत्त्व के कारण केवल जीवसे ही याने परनिमित्त हुए बिना यह व्यक्त हो जाता हो, ऐसा तो है नहीं। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर, बाह्यपदार्थोंको उपयोगमें लेकर ये रागादिकभाव उत्पन्न होते हैं। ये रागादिक जीवके स्वरूपसे भिन्न हैं। लौकिकजनोंकी रागमयता निरखकर व्यामोही मानव जीवका स्वरूप ही रागादिक जानते हैं। रागस्वभाव ही है जीवका, कोई जीव रागसे रहित हो ही नहीं सकता—ऐसी श्रद्धा होना भेदाभेदविपर्यय है। राग मद हो जाय इसे लोग मोक्ष बोलते हैं, वैकुण्ठ बोलते हैं। ऐसे इस विपरीत सिद्धान्तकी बात सुनाई जा रही है, वहा राग भीतर मद पड़ा रहता है। जब समय पूरा हो जाता है तब राग उमड़ता है और इसे वहा से पटककर फिर ससारकी योनियोंमें पैदा कराता है। फिर कभी तपस्या करे, राग मद हो जाय तो फिर वह वैकुण्ठ पहुच जाता है। इस तरह वैकुण्ठ और संसारकुण्ठ इनमें ही भ्रमण होता रहता है, क्योंकि रागको उन्होंने अभिन्न माना है। तो जो चीज भिन्न है उसे आत्मासे अभिन्न मान लेना, यह भेदाभेदविपर्यय है।

अभेदको भेद करनेरूप भेदाभेदविपर्यय— जिस प्रकार जो चीज भिन्न है उसे आत्मासे तन्मय मान लेना भेदाभेदविपर्यय है। इसी प्रकार अभिन्नको भिन्न मान लेना यह भी विपरीत श्रद्धान् है। जीवका ज्ञान जीव से अत्यन्त अभिन्न है। जैसे आगकी गर्मी आगको छोड़कर कहा रहती है? आगमें ही रहती है। गर्मी निकल जाय आगसे तो फिर आगकी कोई सत्ता रही क्या? आग नहीं रहती है। इसी प्रकार ज्ञान यदि जीवसे निकल जाय, कभी निकलता नहीं, त्रिकाल असम्भव है, पर कल्पनासे सोचो, फिर क्या रहा? जीव ज्ञानमय है। फिर भी कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो जीवको न्यारा और ज्ञानको न्यारा मानते हैं। सुनते हुए आश्चर्य होगा। जीव ज्ञानरहित है, जब जीवके ज्ञानका सम्बन्ध होता है तब ज्ञानकी चेष्टा होती है—ऐसा मानने वाले भी कोई सिद्धान्त हैं और इन सिद्धान्तोंसे फल यह निकाला कि

जब यह ज्ञान जीवसे बिल्कुल न्यारा हो जाय तो जीवका मोक्ष होगा। जब तक ज्ञान जीवमें चिपका है तब तक मोक्ष नहीं है जीवका। ज्ञान मिट जाय तो जीवका निर्वाण होगा—ऐसा इस सिद्धान्तका फल निकलता है।

विपरीत मन्तव्यमें पूर्वमें मूल आशयका अनुमान— यद्यपि ऐसा मंतव्य करनेवाले की दृष्टि पहिले पूर्वमें यह रही होगीकि ससारी जीवका जो कुछ ज्ञान है, छुटपुट अधूरा, पराधीन इन्द्रियज जो ज्ञान है वह मिटेगा अर्थात् छुटपुट रागद्वेष भरा ज्ञान दूर होगा तो जीवका मोक्ष होगा यहा तक तो यह बात है, किन्तु यह दृष्टि हो जाने पर सर्वथा यह मान लिया जाने पर कि ज्ञान जीवसे भिन्न है, ज्ञानके सम्बन्धसे जीवको दुखी होना पड़ता है, ज्ञान मिट जाय तो जीव सुखी हो जाय यह सिद्धान्त एकदम विपरीत मार्गमें चला गया है। इसमे अभिन्न चीजको भिन्न मान लिया गया है। यह भेदाभेद विपर्यय नामका विपरीत आशय है।

कारणविपर्यय— तीसरा विपरीत आशय है कारणविपर्यय। किसी वस्तुके परिणमनका कारण कुछ और है और मान लिया जाय कारण कुछ और, इसको कहते हैं कारणविपर्यय। जैसे सब पदार्थ अपनी परिणतिकी योग्यता रखते हैं और उन पदार्थोंमे ऐसा स्वभाव भी पड़ा है कि वह विभावरूप परिणमें तो किसी योग्य परपदार्थको निमित्त पाकर परिणमे, क्योंकि परका निमित्त पाये बिना कोई पदार्थ विभावरूप परिणम जाय, तो उसका विभावपरिणमन अमिट हो जाएगा। फिर मिटेगा कैसे ? वह तो स्वभाव बन गया। प्रत्येक पदार्थमें परिणमनेकी योग्यता है। वह अपने द्रव्य गुणके कारण प्रतिक्षण प्रतिक्षण परिणमता रहता है, किन्तु वस्तुगत मर्मका परिचय न हुआ तो यह कल्पना कर ली कि इन सबका करने वाला कोई समर्थ एक ईश्वर है। वह इन पदार्थोंको कर रहा है। भला हम आपको दो चार काम करनेकी बात पड़ी हुई है, तब तो इतनी हैरानी रहती है और जो जगत्के अनन्तपदार्थोंका काम करे, उसकी हैरानीका क्या ठिकाना है ? ईश्वरका तो आदर्श स्वरूप है, जिसकी आराधना करके हम आप सब अपना कल्याण कर सकते हैं। तो पदार्थ परिणमता तो अपने उपादान कारणसे है। परका निमित्त पाकर परिणमता अपनी परिणतिसे है, लेकिन इस वस्तुस्वरूपको ओझल करके कुछसे कुछ मान लेना, यह सब कारणविपर्यय है।

अपरिचयमें प्रकृतिकी प्रेरणा— जब मनुष्यको किसी बातका नहीं पता नहीं रहता है तो प्रकृति उसमें ऐसी बुद्धि उत्पन्न करती है कि कोई गुप्त शक्ति है, जो इसे परिणमा रही है। बहुत पहिले समयमें जब भारतमें

रेलगाड़ीका इन्जन चलनेको था तो यह जानकर कि आज यहांसे रेल निकलेगी, लोगोंकी भीड़ जुड़ जाती थी उसे देखनेके लिए और देखने पर उस समय कुछ लोग यह कल्पना करते थे कि यह अपने आप तो चल ही नहीं सकती। न इसमे घोड़े जुते हैं, न कोई आदमी ही इसे खींच रहे हैं, यह जो आगे काला-काला लगा है इसमें कालीमाई रहती है वह इस रेलगाड़ी को चलाती है। अरे ! उन्हें पेच पुर्जोंका बोध न था कि ऐसे भाप बनती है, इसके टक्कर लगनेसे यह डडा चलता है, इस डडेकी टक्करसे ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि पहिये घूमने लगते हैं— ऐसा बोध न होने से ऐसी दृष्टि बन गई कि इसे काली देवी चलाती है। तो यों ही समझिये कि जब वस्तुके उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदिकका स्वरूपगत परिचय नहीं है तो कुछ भी कल्पना बनायी जा सकती है। इन समस्त विपरीत आशयोंसे रहित आत्मस्वरूपका श्रद्धान् होना यही सम्यक्त्व है।

अवगाढ और परमावगाढ सम्यक्त्व— अब एक अवगाढ सम्यक्त्व सुनिये। उसका भाव यह है कि अग व अंगबाह्य सहित समस्त आगमका बहुत ऊंचा ज्ञान श्रुतज्ञान होनेके साथ-साथ जो सम्यक्त्वकी आशा होती है, सम्यक्त्व विलासमान होता है वह है अवगाढसम्यक्त्व। और परमात्म प्रभु केवलज्ञानी हैं। उनके ज्ञानमें समस्त लोक और कालकी बात स्पष्ट ज्ञात है। उस ज्ञानके साथ जो सम्यक्त्व विराजता है उसका नाम परमावगाढ सम्यक्त्व है, इस प्रकार इसमें सम्यग्दर्शनके १० भेद बताये गए हैं।

आज्ञासम्यक्त्वमुक्त यदुतविरचित वीतरागाज्ञयैव ।
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्च शिवममृतपथ श्रद्दधन् मोहशान्ते' ॥
मार्गश्रद्धानमाहु· पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता ।
या सज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशदृष्टि' ॥१२॥
आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधे सूचन श्रद्दधान ।
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः ॥
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्वीजदृष्टि· पदार्थान् ।
सक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधुसक्षेपदृष्टि ॥१३॥
य श्रुत्वा द्वादशाङ्गी कृतरुचिरथ त विद्धि विस्तारदृष्टि ।
सजातार्थात् कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यतरेणार्थदृष्टि· ॥
दृष्टि· साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा ।
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥१४॥

आज्ञासम्यक्त्व मार्गसम्यक्त्व व उपदेशसम्यक्त्वका निर्देश— इन -ोंमें दस प्रकारके सम्यक्त्वोंका स्वरूप कहा है— (१) शास्त्रपठनके

विना ही वीतराग देवकी आज्ञा प्रमाण ही उनके वचन सुनकर सन्मार्गका श्रद्धान् होना, सो आज्ञासम्यक्त्व है। (२) ग्रन्थ विस्तारके सुने विना ही दर्शनमोहकी शान्ति होनेसे बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहोंसे रहित कल्याणरूप अमृतपथका मोक्षमार्गका श्रद्धान् होना, सो मार्गसम्यक्त्व है। (३) पुराण-पुरुषोंके उपदेशसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञानके बलसे जो शुद्ध दृष्टि होती है, उसे उपदेशसम्यक्त्व कहते हैं।

सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व व सक्षेपसम्यक्त्वका निर्देश— (४) मुनियोंके आचरणका विधान बताने वाले आचारसूत्रोंको सुन कर जो सन्मार्गका श्रद्धान् होता है, उसे सूत्रसम्यक्त्व कहते हैं। (५) गणित ज्ञानके कारणभूत करणसूत्ररूप बीजों द्वारा दुर्गमपदार्थ समूहको जान लेने से प्रकट हुई सन्मार्गकी श्रद्धाको बीजसम्यक्त्व कहते हैं। (६) पदार्थोंको सक्षेप कथनसे ही जानकर यथार्थबोधकी झलक होनेसे, उत्पन्न हुई निर्मलता से जो सन्मार्गका श्रद्धान् होता है, उसे सक्षेपसम्यक्त्व कहते हैं।

विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व व परभावगाढ सम्यक्त्वका निर्देश— (७) द्वादशाङ्गवाणीरूप आगमविस्तारको सुनकर जो सुतत्त्वकी रुचि होती है, उसे विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं। (८) आगमके मूलवचनोंको बिना सुनेभी उनके अर्थोंके श्रवणसे जो तत्त्वदृष्टि जगी है, उसे अर्थसम्यक्त्व कहते हैं। (९) द्वादश अङ्ग और अनेक अङ्गबाह्यों सहित प्रवचन परमागमका अवगाहन करके उत्कृष्टरूपसे स्थित जो सम्यक्त्व है, उसे अवगाढसम्यक्त्व कहते हैं। इसका भाव यह है कि श्रुतकेवली महाश्रमणोंके सम्यक्त्वको अवगाढसम्यक्त्व कहते हैं। (१०) केवलज्ञानसे आलोकित अर्थमे प्रत्यय होनको परभावगाढसम्यक्त्व कहते हैं। इसका यह भाव है कि केवलज्ञानियोंके अर्थात् परमात्मा प्रभुके सम्यक्त्वको परभावगाढसम्यक्त्व कहते हैं। यों एक ही सम्यक्त्वके निमित्तभेदसे १० भेद कहे गए हैं।

शमबोधवृत्ततपसा पाषाणस्येव गौरव पुस ।
पूज्य महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसयुक्तम् ॥१५॥

प्रारम्भ मे ही सम्यक्त्वाराधना के निर्देश का कारण— इस ग्रन्थके प्रारम्भमे सम्यक्त्वकी आराधनाके लिए उपदेश किया है। प्रथम ही प्रथम सम्यक्त्वकी आराधनाके लिए ही क्यो कहा गया? सम्यक्त्वमें ऐसी क्या खासियत है? उसका दिग्दर्शन करानेके लिए आचार्यदेव इस छंद में यह कह रहे हैं कि कषायोंका उपशम, शास्त्रोंका अभ्यासकरके पाया हुआ ज्ञान और पापोंका त्यागरूप चारित्र तथा बड़ी दुर्धर तपस्यायें—ये सब इस जीवको पत्थरकी तरह बोझरूप हैं। यदि सम्यक्त्व नहीं है तो और वहांके

वहीं सब सम्यक्त्व करके सहित हों तो महामणिकी तरह वे सब पूज्य हो जाते हैं।

सम्यक्त्वरहित उपशमभावका बोझ— अनन्तानुबंधी कषायके मंद उदयमें मिथ्यादृष्टी द्रव्यलिङ्गी साधुके भी इतनी शान्ति आ जाती है, कषायों का उपशम हो जाता है कि कोई वैरी उन्हें कोल्हूमें पेल दे तो भी वह उस शत्रु पर द्वेष भाव नहीं लाता है, किन्तु निर्विकल्प शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका भान न होने से अपने शुभ विकल्पोंमें ही यह अटका हुआ है। मैंने साधुव्रत लिया है, साधुको क्रोध न करना चाहिए, साधुके लिए तो शत्रु और मित्र दोनों समान हैं, सम्मान और अपमान दोनो बराबर हैं, इस प्रकारके विकल्पोंमें उसकी अटक हो गयी है। यह सहजभावसे शान्तिकी वृत्ति नहीं है, किन्तु जान बूझकर उपयोग लगाकर विकल्पोंमें रमकर शान्ति बनाई है। ऐसा बड़ा उपशमभाव भी इस जीव पर मिथ्यात्वकी स्थितिमें एक पाषाणकी तरह बोझ हो गया है। विषयकषायों का बोझ तो प्रकट ही है, किन्तु ऐसा उपशम भाव भी सम्यक्त्व बिना बोझ कहा गया है।

प्रकृत उपशमभावकी हीनताका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन— जैसे मणिकी जाति और पत्थरकी जाति एक पाषाण कही गई है। मणि भी तो आखिर पत्थर है और यह छतों पर लगाया जाने वाला, भींतोंमे चिना जाने वाला पत्थर भी तो पत्थर ही है, फिर भी इस पत्थरकी कोई महिमा नहीं है, मूल्य नहीं है और मणि दो चार रत्तीका भी हो तो भी उसकी महिमा मानी गयी है। ऐसे ही यह प्रशमभाव सम्यग्दृष्टीयोंके भी है, मिथ्यादृष्टियोंके भी है, पर सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि जनोंका शुभभाव की अटकके कारण बनाया गया यह प्रशमभाव भी महिमा नहीं रखता मोक्षमार्गके लिए। आखिर 'बिल्कुल व्यर्थ तो यों नहीं जाता कि प्रशमभाव से विशेष पुण्यका बंध होता है, उत्तम आयु प्राप्त होती है, व्यर्थ तो यों नहीं गया, किन्तु मोक्षमार्ग बिल्कुल नहीं हुआ इस दृष्टिसे वह व्यर्थ गया है।

सम्यक्त्वरहित ज्ञानका भार— ज्ञानकी बात देखो अभव्य साधुके भी ११ अग ६ पूर्वका पूर्ण ज्ञान हो जाता है, इतनी तपकी महिमा है। यह बहुत विशाल ज्ञान है। इतना तक ज्ञान हो जाने पर भी जिसको सहज भाव में अनुभूति नहीं हुई है ऐसे पुरुषको इतना विशाल ज्ञान भी पाषाणकी तरह एक बोझ बताया गया है। दृष्टि मोक्षमार्गमें देनी है, उसकी अपेक्षा यह समस्त कथन है। पुण्यके रुचिया जीव तो यह आशका करेंगे कि क्या बोधकी बात कही जा रही है? इतनी बड़ी तपस्या गर्मीमें, शर्दीमें, बरसात में विभिन्न कठिन साधनाएँ इन्हें बोझ कहा जाय व उनसे उत्पन्न हुआ ऐसा

ऊँचा ज्ञान जो हर एक मे सम्भव नहीं हैं, ऐसे ज्ञानको भी बोझ कहा जाय, लेकिन ससार सकटोंसे दूर करने वाले मोक्षमार्गकी दृष्टिसे निरखो तो उसकी दिशाएँ बिल्कुल भिन्न हैं, अतएव वह मोक्षमार्गका काम नहीं दे सकता है।

सम्यक्त्वकी सहज दिशा— सम्यक्त्वकी दिशा अलौकिक है। कहो एक बैल कहीं बैठा हुआ घास खाकर जुगालिया ले रहा हो, कहो उसकी दृष्टि ऐसी निर्मल हो जाय कि वह आत्माकी ओर झुके, अपने शरीरको भी भूले और शुद्ध ज्ञानज्योति मात्र मैं हू— ऐसी अनुभूति जगे। यद्यपि वह बैल बोल नहीं सकता है अक्षरोंके रूपमें और इसी कारण जो ज्ञान और अनुभव करता है उसका अन्तर्जल्प भी न कर सके, फिर भी अनुभूति प्रत्येक सैनी पर्याप्त जीवके होने का अधिकार है। कहो वह सम्यक्त्व उत्पन्न करले, हां लब्ध्यपर्याप्तक संज्ञी जीवको अधिकार नहीं है किन्तु जितने भी संज्ञी पर्याप्त जीव हैं उन्हें सम्यक्त्वका अधिकार है, ऐसे पशु कहो सम्यक्त्वको पा लें और एक मनुष्य जो साधु होकर बड़ी ऊँची तपस्या कर रहा है और कहीं विभावमें अटक है, वह कहो अपने विकल्पोंमें ही फँसकर सम्यक्त्व न उत्पन्न कर सके। यह बोझ भी सम्यक्त्वके बिना बोझ है।

सम्यक्त्व बिना विशाल शास्त्रज्ञान भी भार— जैसे भावभासना हुए बिना शास्त्रोंकी विद्याएँ भी विडम्बना करने वाली होती हैं, ऐसे ही भावभासना हुए बिना आत्मतत्त्वकी विद्या जानकारी भी उसके लिए विडम्बना अथवा भाररूप होती है। एक कथानक है कि चार ज्योतषी गए एक राज दरबारमे। कहा हम लोग गुप्त प्रच्छन्न सब बातें बताया करते है। राजा ने अपने हाथमे एक चीज ले ली और कहा—अच्छा बतलावो मेरे हाथ में क्या है ? तो एक ज्योतिषीने गणित लगाकर बताया कि आपके हाथमें वह सफेद चीज है। तीसरे ने कहा कि उस गोल-गोल चीजके बीचमें छेद भी है, तो चौथा कहता है कि खोलो महाराज, आपके हाथमें चक्कीका पाट है। अरे उसको इतनी अक्ल न हुई कि हाथकी मुट्ठीमें चक्कीका पाट कैसे आ सकता है ? वह चीज गोल तो थी, सफेद भी थी, बीचमें छेद भी था, मगर वह मालाका दाना था। जिसे चौथे ने कहा कि खोल दो महाराज चक्कीका पाट है। तो भावभासना बिना, विवेक बुद्धि बिना शास्त्रोंकी विद्यावोंसे अक्षरोंकी विद्यावोंसे मर्म तक नहीं पहुचा जाता है। ऐसे ही आत्माके सबंधमे शब्द उतने ही हैं, अमूर्त हैं, नित्य हैं, निरञ्जन हैं, सनातन हैं आदि, पर इतना बोलकर भी भावभासना न होनेसे उसकी पहिचान नहीं हो पाती है, पकड़ नहीं हो पाती है। ऐसे ही यह सब ज्ञान जो शास्त्रोके अभ्यास से सम्पादित किया है वह ज्ञान भी अपने लक्ष्यको पकड़नेमें असमर्थ रहता

है। वही समस्त ज्ञान सम्यक्त्व उत्पन्न होने पर महामणिकी तरह पूज्य हो जाता है।

ज्ञानकी सम्यक्त्वके कारण समीचीनता— भगवान महावीर स्वामीके समयमें इन्द्रभूति नामका एक विप्र था। जो उस समयके विद्वानोंमें सर्वप्रमुख विद्वान् था। इन्द्रने अवधिसे जाना कि महावीर स्वामीकी धुनि नहीं खिर रही है, उसको झेलने वाला भी कोई नहीं है, इसको झेलने वाला तो इन्द्रभूति ही होगा। इसे किसी तरह समवशरणके नजदीक तक ले चले तो सबका कल्याण है। इन्द्र वृद्धरूप धरकर एक प्रश्न करता है जो बहुत प्रसिद्ध है— "त्रैकाल्य द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्कायलेश्या, पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रतसमिति गतिज्ञानचारित्रभेदा। इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितै प्रोक्तमर्हद्भिरीशै., प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् य स वै शुद्धदृष्टि.॥" ३ काल, ६ द्रव्य, ९ पदार्थ, ६ काय, ६ लेश्या, ५ अस्तिकाय, ५ व्रत, ५ समिति, ४ गति, ५ ज्ञान, ५ चारित्र— इन सबका विशद परिज्ञान और जहा जिसरूप आचरण करना है वह आचरण हो यह सब मोक्षका मूल है। जो इसकी श्रद्धा करता है, ज्ञान करता है और इसका स्पर्श करता है वह सम्यग्दृष्टी है, मोक्षको प्राप्त होता है। इस छदमें सज्ञाके संकेत भर हैं, इसे वह स्पष्ट तो नहीं बता सका, क्योंकि यह मूल-मूल भाव मात्र हैं, किसी विवरणके साथ इस छदमें वर्णन नहीं है, लेकिन अपना अभिमान तो रखना था उस समयके विद्वानोंमें सबसे बड़ा विद्वान् था वह, तो अपनी शान रखनेके लिए कहता है कि तुम्हें क्या बतलाएँ, तुम्हारा कोई गुरु है? हम सीधा गुरुसे बात करेंगे। उन्होंने कहा, हां मेरा गुरु है। लिवा लाया महावीर स्वामी के समवशरणमें। वहा मानस्तम्भ देखकर उसका मान जल गया, सम्यक्त्व जग गया। ज्ञान तो सब पहिले था ही, वह सब ज्ञान एक सम्यक्त्व जगे बिना, स्याद्वादका आश्रय लिए बिना जो विपरीत हो रहा था, वह समस्त ज्ञान अब सही-सही रूपमें वही तत्त्वभूत नजर आने लगा।

सम्यक्त्वके बिना चारित्रका भार— यह बोझ सम्यक्त्वके बिना पाषाण की तरह बोझरूप है और सम्यक्त्वसे सयुक्त हो तो महामणिकी तरह वह पूज्य है। जिसका आशय विपरीत है वह कितना ही प्रिय बोले, कितना ही बनकर बोले, आखिर वह घातक ही होता है। ऐसे ही जिस आत्माका आशय विपरीत है वह कितना ही ज्ञान करे वह सब ज्ञान खोटा ही होता है। वही समस्त ज्ञान सम्यक्त्व सहित हो तो पूज्य है। ऐसी ही चारित्रकी भी बात है। पचमहाव्रत ५ समिति, ३ गुप्तिका पालन, २८ मूल गुणोंका निर्दोष धारण कितनी कठिन बात है, मन, वचन, कायको कितना ही सभाल करके यह

दुर्धर व्रत किया जा सकता है। फिर भी जिसे कहते हैं कि भीतरकी गुंडी नहीं खुली, सबसे निराले केवल ज्ञानप्रकाशमात्र, असहाय, स्वसहाय, परम-शरणभूत आत्मसर्वस्वका अनुभव न हुआ, विकल्पमें ही अटक रही तो यह दुर्धर चारित्र भी पाषाणकी तरह बोझ है, क्या होगा? सम्यक्त्वरहित चारित्रसे कुछ पुण्यका बंध होगा, देवगतिमें जन्म होगा, वहां विषयोंमें रमेगा, पापबंध करेगा, और फिर जहां भी उत्पन्न हुआ मनुष्योंमें अथवा तिर्यञ्चोंमें वहां भी वही आदत बनेगी, संसारको लम्बा करेगा, लाभ कुछ न उठा पायेगा क्योंकि सम्यक्त्व एक दिग्दर्शन आश्रय है, वह पासमें नहीं है।

सम्यक्त्वकी लक्ष्यदर्शकता— जैसे पानीका जहाज अथवा हवाई जहाज चलाने वाले लोग अपने साथ कुछ ऐसा यंत्र रखते हैं जिससे दिशा का भान रहता है। हवाई जहाज तो नक्शे के आधार पर चलता है। आकाशमें कहा लाइन है, कहा सड़क है? जैसे वहां अपने यंत्रके आधारपर ठीक दिशामें चला लेते हैं यों ही मोक्षमार्गमें चलनेके लिए यह सम्यक्त्व दिग्दर्शक यत्र है। चलना तो चारित्रसे है, पर किस तरह चलना— यह सब दिशा बनाने वाला यह सम्यग्दर्शन है। जैसे नाव खेने वाले लोग अपने बल से नावको आगे खेते जाते हैं। नावके खेने तक ही उनका काम है, पर किस दिशामें, नाव जाय इसका अधिकारी तो वह करिया लेने वाला है जो नाव के पीछे बना रहता है। ऐसे ही चारित्रका काम तो उपयोगको कहीं रमानेका है, पर उपयोग कहां रमें? इसका निर्णय तो सम्यक्त्व और मिथ्यात्व पर निर्भर है। मिथ्यात्वका उदय है, विपरीत आशय है तो चारित्र रमेगा विषय कषायोंके लक्ष्यमें और सम्यक्त्वका आशय है, शुद्ध चित्त है तो उपयोग रमेगा शुद्ध ध्येयमें, आत्मतत्त्वमें। यह समस्त चारित्र भी सम्यक्त्वके बिना बोझरूप है।

सम्यक्त्वरहित पुरुषके अनशनसे मोक्षमार्गमें सफलताका अभाव— तपस्या भी बहुत कठिन होती है। अनशन करना, माह दो माह, चार माह ६ माहका अनशन करना कितना कठिन तप है? यहां तो एक बार भी भोजन छोड़ना बड़ा कठिन मालूम पड़ता है। इतना भी जाने दो, दो बार दिनमें खायें, तीन बार भी खायें तो भी रातमें खानेको मन ललचाता है। दिन भर खाया, चलो रातको न खायें, इतनी भी सबर नहीं होती है। और मुनिराज दो चार माह तकका भी उपवास किया करते थे। अनेक साधु अथवा श्रावक अब भी ५—७ दिनका पर्वोंके समयमें उपवास कर लिया करते है। उपवासकी कठिन तपस्या करके भी यदि दिशाका भान नहीं है, मुझे क्या करना है, मैं कौन हू, इसका सही परिचय नहीं मिला है तो इतना

श्रम करके भी वह मोक्षमार्गमें कुछ भी सफल नहीं हो सका है।

सम्यक्त्वरहित तपश्चरणोंका भार— भैया! एक अनशन ही क्या अनेक तपस्याएँ ऐसी हैं जो दुर्धर हैं, गर्मीकी ऋतुकी तपस्या, शीत ऋतुकी साधनाएँ, वर्फ गिर रही है, ओस गिर रही है, जगलमें साधना कर रहे हैं वहुत तेज गर्मी पड़ रही है, पर्वतोंमें विचर रहे हैं, ध्यान साधनामें लगा रहे हैं, कितनी-कितनी कठिन तपस्याएँ हैं, लेकिन कोई साधु यदि यह विकल्प रक्खे कि इस मुझको मोक्ष पाना है और ये-ये व्रत पालना है, मैं साधु हूं, साधु हुए विना मोक्ष नहीं मिलता, सव कुछ सोचकर देहको लक्ष्यमें लिया है अथवा भीतरमें एक यह त्यागमय विकल्प चल रहा है, उस विकल्प में उलझे हुए हैं, उस विकल्पको पार करके परम विश्राम न लिया जा सकता हो तो ऐसी पर्यायबुद्धिका यह तपश्चरण भी एक वोझ है और वही तपश्चरण सम्यक्त्व यदि है तो वह महामणिकी तरह पूज्य हो जाता है।

ग्रन्थारम्भमें धर्मप्रारम्भकका निर्देश— सम्यक्त्वकी आराधना करना धर्मपालनके लिए सवसे पहिले क्यों वताया गया है? इसका कारण यही है कि यथार्थ भान हुए विना धर्मका प्रारम्भ नहीं होता है। इसलिए सवसे पहिले ज्ञानार्जन, तत्त्वचिन्तन, आत्ममनन करके अपने आपका यथार्थ निर्णय वना लेना चाहिए, अपना अभिप्राय विशुद्ध वना लेना चाहिए। जो पुरुष अपनी स्वच्छताका तो यत्न न रक्खे, किन्तु व्रत चारित्र पटकर्म आदि क्रियायें करनेके लिए ही उद्यमी वना रहे, हृदय अपवित्र ही रक्खे, लोभका रग, मानका भूत, मायाका जाल, क्रोधकी ज्वाला कितनी ही वनी रहे, जिनकी ओटमें यह प्रभु ढका रहे तो उसके ये सव श्रम कार्यकर नहीं होते हैं।

सम्यक्त्वकी धर्ममूलता— किन्हीं दो चित्रकारोंको एक सेठने एक कमरा दे दिया और कहा कि तुम दोनों एक-एक भींत पर अपने-अपने चित्र वनावो। उनके वीचमें एक पर्दा डाल दिया गया, इसलिए कि वे दोनों एक दूसरेके चित्रोंको न देख सकें। अव उनमें जो होशियार चित्रकार है वह तो यह करेगा कि भींतकी पहिले सफाई करेगा चूनासे तथा और और मसालों से यह सफाई वह तव तक करेगा जव तक कि उसे यह विश्वास हो जाय कि अव यह चित्रोंको चमकाने वाली भींत हो गयी। और दूसरा कारीगर वड़े अच्छे-अच्छे रंग लाकर चित्रकारीमें ही छहों महीना व्यतीत कर डालेगा। जव पर्दा उठाकर उनका मिलान करनेके लिए देखते हैं कि किस कारीगरकी चित्रकारी अच्छी है? पहिले चित्र वनी हुई भींत पर दृष्टि डाली तो वे चित्र न चमकीले थे, न उनमें कांति थी, क्योंकि ऐसी ही रही सही

भींत पर बनाये गये थे। जब दूसरी ओर दृष्टि दी तो वह चमकीली भींत बनी हुई थी, उस पर सामनेके सारे चित्र प्रतिबिम्बित हो गए थे। देखनेमें बडे सुहावने लगे। तो भींतकी सफाई करने वाले को इनाम मिला। यों ही कोई पुरुष अपने चित्त को उपयोगको स्वच्छ बनाये रहात है, सम्यग्ज्ञानके मननसे जिसका धर्मपालन सही है, एक तो यह पुरुष है और कोई पुरुष अपनेको धर्मात्मा जतानेके लिए कुछ विकल्प बनाए, मैं क्या हू ? इसका भान न हो तो वह आत्मीय आनन्दका लाभ नहीं उठा सकता। यह ही पुरुष जब सम्यक्त्वसहित हो जाता है तो उसके समस्त ज्ञान, चारित्र और तप महामणिकी तरह महिमा योग्य हो जाते हैं। सम्यक्त्वकी अनिवार्यता है आत्मकल्याणके लिए, इस कारण आचार्यदेवने ग्रन्थके प्रारम्भमे सम्यक्त्व की आराधना करने के लिए अनुरोध किया है।

मिथ्यात्वातङ्कवतो हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य।
बालस्येव तवेय सुकुमारैर्या क्रिया क्रियते ॥१६॥

मोहातङ्कग्रस्त पुरुषको सुगम चिकित्साका आश्वासन— ससारके जन्म मरण विषय कषायके संकटों से छुटकारा पाने के लिए आचार्यदेवने सम्यक्त्वकी आराधना बतायी है। सम्यक्त्वकी आराधनामें कोई कष्ट अथवा भय नहीं है। कोई पुरुष इन विषयोंको कष्टदायी मानकर भय करे तो उसका भयनिवारण इस छद्मे किया गया है कि मिथ्यात्वरूपी रोगसे पीड़ित और इस ही कारण हित और अहितकी प्राप्ति और परिहारमें बेहोश बालककी तरह अज्ञानी ससारी प्राणियों को हम सुकुमार क्रिया बतावेंगे अर्थात् जैसे बालक रोगी हो जाय तो उसपर कठिन इलाज नहीं किया जाता, सुकुमार इलाज होता है, इस ही प्रकार अनादि मिथ्यात्व रोगसे पीड़ित प्राणियोंको हम भी सुकुमार इलाज बतावेंगे, भय करनेकी जरूरत नहीं है।

ससाररोग विवरण— भैया ! रोग तो इस जीव पर बहुत विकट है। अपने आपका आत्मा अपनी सुधमें न रहे और बहिर्मुखी दृष्टि बनाकर अत्यन्त भिन्न असार अहित परद्रव्योंको अपना माना करे, ऐसी जो अन्तरङ्ग में कलुषता बस गयी है यह क्या कम विपत्ति है ? इस जगत्में मोही मोहियों का यह मेला है। इस कारण एक दूसरेके मोहकी करतूतकी प्रशसा की जा रही है और इसी कारण अपनी गल्ती विदित नहीं हो पाती है। धन वैभव की वृद्धिमें, यश प्रतिष्ठा के बढ़ावेमें और भी नाना व्यामोहोंमें सभी जीव उलझे हुए हैं। इस कारण दूसरे की वृद्धि सासारिक समृद्धि निरखकर लोग प्रशंसा करते हैं और ये मोही उस प्रशंसामें आकर अपने आपको भल जाते है। यह विडम्बना क्या इस जीव पर कम विपदा है ?

सुख दु:खमें सुकृत दुष्कृतकी आधीनता— भले ही आज मनुष्यजन्म पाया है, सम्पदा विषय साधनका भी आराम बहुत है और दुनियावी विद्या की कला भी कुछ प्राप्त है। इतना सब कुछ साधन मिल जाने पर भी क्या यह ठेका कोई ले सकता है कि अब इस जीवके भविष्यमें कभी भी इससे हल्कापन नहीं आ सकता है? प्रथम तो इस जीवनमें भी विश्वास नहीं है कि जैसे आज हैं वैसे ही या उससे बढ़कर स्थिति रहेगी और फिर मरणके बाद तो एकदम ही काया बदल जाती है। सुकृत किया हो तो उत्तम गति मिलती है, दुष्कृत किया हो, अन्याय या धन वैभवकी तृष्णामें आकर अपने आपको बरबाद करना, दूसरोंके प्रति अन्यायकी वृत्ति करना आदि कर्तव्योंसे यदि कुछ दुष्कृत बन गया हो तो जगत्में जैसे और जतु दीख रहे हैं, घोड़े, बैल, गधे, शूकर, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, कीडे मकोडे— ये सब इसी के तो प्रमाण हैं कि पाप कर्मका बंध हो तो एकदम ढाचा यों बदल जाता है।

हितार्थ ज्ञानोद्यम— हे आत्मन्! अपना हित यदि चाहता है तो इस भ्रमको तू तज दे कि संसारमें इतने लोगोंमें हमें सर्वश्रेष्ठ कहलाना है और इसके लिए हमें इतनी सम्पदाका संचय करना है--इस बुद्धिको तू त्याग दे। इस बुद्धिसे संचय भी नहीं होता है। जिसमें जैसी योग्यता है, जैसे पुण्यका जिसके उदय है उसके अनुसार ये सब समागम, ये सब समृद्धि स्वय ही निकट होती हैं। तू अपनी बुद्धिको अपने ठिकाने रख। समस्त जगत्के जीवोंके प्रति मैत्री भाव बना। किसी भी जीव को तू अपना विरोधी मत मान, कोई भी जीव तेरा विरोधी नहीं है, प्रत्येक जीव तेरी ही भांति अपने स्वार्थको लेकर अपने कषायोंकी वेदनाकी शान्तिके लिए अपनी-अपनी चेष्टा किए जा रहे हैं। तेरा कोई विरोध नहीं करता है। जो भी दूसरा पुरुष तेरा लक्ष्य लेकर विरोध करता हो तो सच मान, वह तेरा विरोध नहीं करता। तेरा विरोध करनेकी सामर्थ्य किसी अन्य प्राणीमें है ही नहीं। वे सब अपनी अपनी कषायके अनुसार अपनी वेदनाको मिटानेके लिए अपनी चेष्टाएँ किया करते हैं—यह है वस्तुस्थिति। तू उन परकी चेष्टाओंको निरखकर अपने मन में द्वेष मत ला, वहा भी ज्ञाता द्रष्टा रह।

मिथ्यात्वकी वेदना–यह समस्त जगत् मिथ्यात्वरूपी रोगसे पीड़ित है। यहां जो कुछ भी परस्परके व्यवहार हैं, जिन व्यवहारोंमें हम तुष्ट होते हैं, मौज मानते हैं, वे सब मोहकी नींदके स्वप्न हैं, ये सब समागम मायारूप हैं। आज मिले हैं कल न मिलेंगे, नष्ट हो जायेंगे। कभी तो वियोग होगा ही। जिसका भी समागम हुआ है उसका नियमसे वियोग होगा, चाहे वह सचेतन

समागम हो अथवा अचेतन समागम हो, वियोगसे होगा। बिछुड़ने पर दुःखी होना ही पडेगा। जो बिछुड़ रहा है वह भी दुःखी और जो यहां रह रहा है वह भी दुःखी। बल्कि मरने वाला पुरुष तो मरकर चला गया, उसे यहाकी कल्पनाका कुछ क्लेश नहीं रहा, किन्तु यहां जो बच रहा है वह मरने वालेकी याद कर करके कई वर्षों तक दुःख भोगता रहता है। मरने वाला उतने टोटेमें नहीं रहा, जितना कि जीने वाला रहा।

मायाव्यवहार— यहा कोई किसी की प्रशसा करता हो तो वहां वह यों समझता है कि मोहके रोगसे पीड़ित प्रशसाके लोलुपी दोनों ओरके वे पुरुष हैं, जो प्रशसा करते हैं वे भी प्रशंसाके इच्छुक है और जिसकी प्रशंसाकी गई है वह यदि सतुष्ट होता है, मौज मानता है तो वह भी प्रशसाका इच्छुक है। अन्तरङ्ग मे जब प्रशंसाकी कल्पना जग गयी तो यही तो कलुपता है, विपदा है। एक नीतिमे कहा है—"उष्ट्रानां विवाहेषु गीत गायन्ति गर्दभाः। परस्परं प्रशसन्ति अहोरूपमहो ध्वनिः॥" यह चित्र कविने खींचा है। कहीं हो रहा था ऊँटोंका विवाह तो विवाहमे गीत गाने वाले चाहिये ना, सो गीत गानेके लिए गधे बुलाये गए। वे गधे ऊँटोंकी प्रशंसा करते हैं— अहो कितना सुन्दर रूप है। अरे कहीं ऊँटका रूप सुन्दर होता है? उसकी गर्दन टेढ़ी, पीठ टेढ़ी, पैर टेढे, सारा अग टेढ़ा, पर गधे ऊँटोकी प्रशसा करते हैं तो ऊँट भी गधोंकी प्रशसा करते हैं—अहो कितनी सुन्दर ध्वनि है? तो जैसे गधोंने ऊँटोंकी प्रशसा कर दी और ऊँटोंने गधोंकी प्रशसा कर दी। यों ही यदि एक दूसरेकी प्रशसामे यह पुरुष मुग्ध हो जाता है, च्युत हो जाता है तो यों ही समझना चाहिए कि परस्परमें सभीका अन्तरङ्गमे कलुषित परिणाम है। कलुषता केवल रागद्वेषको ही नहीं कहते हैं। उससे भी बढ़कर कलुषता है रागकी।

रागका संकट— यह आत्मदेव ज्ञानानन्दका निधान है। स्वय ही अनन्त आनन्दस्वरूप है। ज्ञानस्वभावके कारण तो इसमें इतनी सामर्थ्य है कि समस्त लोक और अलोकको, भूत भविष्यको यह एकदम स्पष्ट जान सकता है। इतना महान् ज्ञानानन्दके निधान इस प्रभुकी जिसने ओट कर दी है, जो उड़कर उपयोग और प्रभुके बीचमे अटककर आगे आया है--ऐसे इस रागको अपना कितना वैरी बताया जाय? जिसने कि इस प्रभुका दर्शन ही रोक दिया है। यह रागका सकट हम आपपर कठिन लगा हुआ है। विषयोंमें क्या आनन्द है? जो आनन्द इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके उपयोगमे है वह आनन्द कहीं नहीं है। मनुष्य नवीन-नवीन आनन्द के लिए नवीन-नवीन तैयारी किया करता है। जरा विषयोंके आनन्दकी धुनि तज

कर आत्मीय आनन्द भी तो तको, कितना अलौकिक आनन्द है, उसकी प्राप्तिके लिए कुछ उद्यम करो।

आत्मकार्यके भावात्मक यत्नमें सिद्धि— भैया! जो अपना काम है। वह काम किए बिना नहीं होता, हम आत्मीय आनन्दका अनुभव करना चाहें तो अन्तरङ्गमें बड़ा त्याग और बड़ा तपश्चरण करना होगा। हम बाहरी त्याग और तपस्याकी बात नहीं कह रहे हैं। बाह्यमें गृहस्थकी स्थिति हो अथवा साधुकी स्थिति हो, उसकी बात यहा नहीं कही जा रही है, किन्तु ज्ञानरूप है यह आत्मा ना, जाननेका तो इसे अधिकार है, जानने की स्वाधीनता है तो चलो, अब यह परपदार्थोंको न जानकर जानने वाला तो यह है स्वय, इस जानने वाले को ही जाननेके लिए अपना आग्रह बना ले। इतनी उत्कृष्टता मूलमें उत्पन्न हो तो सब काम बन सकता है। आशय ही हमारा विपरीत है, खाने पीने मौज उड़ाने के लिए ही अपना जीवन समझें तो फिर हमें सत्पथ न मिलेगा। जैसी दृष्टि हम बनाते हैं वैसा ही हमारा यत्न होता है। इस मनुष्यजीवनका लाभ आत्मचिन्तन, आत्म-मनन और आत्मीय आनन्दके अनुभवनके लिए मानें और अपना लक्ष्य विशुद्ध करके फिर उसके लिए प्रयत्नशील रहा करें। जैसा हमारा लक्ष्य होगा तैसी ही हमारी गति होगी।

इन्द्रियविषयोंकी असारता— यह जीव इस स्वतत्र निश्चल विकल्मष अपने प्रभुको न पहिचान कर, चूँकि इसमें किसी न किसी जगह रमनेका स्वभाव पड़ा है, इस कारण यह परपदार्थोंमें रीझनेकी परिणति बनाता है और तब हित क्या है और अहित क्या है–इसे भी यथार्थ नहीं समझ सकता है। भला अनुभवसे ही देखो इन्द्रियों द्वारा किसी भी विषयके भोगके पश्चात् भी किसीके कुछ तृप्ति और सतोप रह पाता है क्या? कोई सा भी विषय ले लो— चाहे रातभर संगीत सुनें, राग रागनियां सुनें पर उसके बाद थकान, निद्रा, प्रमाद हो जाते हैं, कार्यहानि भी होती है, सब हानिया ही हानिया हैं, पर कल्पनासे उसे मौज मान लेते हैं। ऐसे ही कोई भोजन सरस स्वादिष्ट, गरिष्ट आसक्तिवश खूब खायें, पर खाने के बाद पड़ा रहना, पेट पर हाथ फेरना, चूरन चटनी की तलाश करना, कितनी देर तक उसका कष्ट भोगना पड़ता है और स्पर्शनइन्द्रियका विषय, कामके विषयका पछतावा तो सबसे अधिक हुआ करता है। जिन इन्द्रियोंके भोगने के पश्चात् भी पछ-तावा बना रह सकता है, उन असार इन्द्रियविषयोंमें क्या सारकी बात बतायी जाय? वह हितरूप नहीं है, अहित है। लेकिन मोहमें जीव अहितकी ही प्राप्तिका उद्यम बनाये रहता है।

धर्ममर्मके परिचय बिना शान्तिका अलाभ—भैया! हितरूप है सम्यग्ज्ञान और वैराग्य। इनसे जो लोग दूर रहा करते हैं उन लोगोंका स्वहितमें मन नहीं लगता, हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारका होश भी नहीं रहता। इस मिथ्यात्वके रोगमें ऐसा है यह दुःखी प्राणी, किन्तु आचार्य देव कहते हैं कि हे आत्मन्! तुम्हारा दुःख दूर करने के लिए हम सुकुमार चिकित्सा बतावेंगे, भय मत करो। है भी यह बहुत सुकुमार चिकित्सा। केवल ज्ञान द्वारा ज्ञानमें ज्ञानकी बात घटाना कितनी सुकुमार चिकित्सा है? यही धर्मका मर्म है। जिसके भी हृदयमें स्वच्छता बन चुकी है वह व्यवहार के अनेक धर्मके श्रम करके भी उसके हाथ कुछ नहीं लगता। क्या कारण है कि वर्षों भक्ति करते हुए हो जायें, अनेक झांझ मंजीरे भी फूट जायें, कितने ही बडे-बडे विधान उत्सव समारोह भी धर्मके नामपर कर डाले हों, और भी धर्मके नामपर बहुत-बहुत विधियां बनायी हों, लेकिन समय बहुत गुजरनेके बाद भी क्रोधमें कमी नहीं, घमंडमें कमी नहीं, मायाचारमें भी कमी नहीं। लोभका रग तो कहो पहिलेसे भी अधिक बढा हुआ हो। यह अपने जीवन की निगरानी करनेके लिए कहा जा रहा है।

अपनी परख—देख लीजिए यदि कषायोंमें विषयोंमें फर्क आया हो तब तो समझो कि हमने पद्धतिसे धर्मपालन किया है। नहीं आता है फर्क तो खोज करना चाहिए कि कौनसी त्रुटि इसमें रह गयी है? जिस एक त्रुटि के बिना सारा यंत्र चला देने पर भी गाड़ी नहीं चलती है। वह कौनसी त्रुटि है? वह त्रुटि है, मोह नहीं मिटा है। अपने आपको सबसे न्यारा ज्ञान-मात्र नहीं जान पाया। यह मूर्त शरीर, ये मूर्त कल्पनाएँ, ये रागादिक विभाव इन्हीं रूप अपने को माना और इस ही मिथ्यात्वकी प्रेरणासे हमने धर्मकी साधना की। धर्मप्रीतिकी प्रेरणासे नहीं की, किन्तु मानपोषणके लिए अपना विकल्प कल्पनामें जो कुछ भी अपनी ख्यातिके साधनभूत समझा, उसके लिए इसने धर्मसाधन किया है और यही कारण है कि अनेक वर्ष गुजर जाने पर भी कषायोंमें अन्तर नहीं आ पाता है।

स्वाधीन सुगम धर्मपुरुषार्थ—भैया! धर्मके लिए बाह्यमें श्रम व्यायाम करनेकी जरूरत नहीं है, किन्तु चुपचाप ही गुप्त ही गुप्त भीतरकी ओर प्रवेश करते हुए एक अपने आपमें कोई-अपूर्व अंतःपुरुषार्थ करने की जरूरत है। जिस उपयोगमें किसी क्षण किसी परवस्तु विषयक मोह न रहे, अपने आपको स्वतत्र अकेला मान सके, मेरा परिवार है, मेरा धन है, मेरी प्रतिष्ठा है, मैं अमुक हूं—ये सब कल्पनाएँ इससे निकल जायें जिस किसी भी क्षण, उस ही क्षण इसमें से आनन्द फूट निकलेगा, आनन्दका अनुभव होगा।

उस ही आनन्दमें यह सामर्थ्य है कि भव-भवके सचित कर्मोंको नष्ट कर देगा। कर्मोंको नष्ट करनेमें समर्थ शुद्धज्ञानानुभूति है, फिर तपश्चरण किस लिए किया जाता है? उन दुर्धर तपश्चरणोंका प्रयोजन विषयकषायों को, मलिन सस्कारोंको मिटानेका है।

बाह्य तपका विशिष्ट सहयोग— कर्मोंका निर्जरण कायक्लेशसे नहीं है, फिर भी कायक्लेशरूप तपश्चरण आवश्यक है। तपश्चरण कर्मशत्रुके विजयके प्रसगमें ढालका काम करता है, तलवारका काम नहीं करता है। कर्मोंको नष्ट करनेके लिए वह विषयशत्रुसे बचानेके लिए ढालका काम करता है, तलवारका काम तो यह शुद्ध ज्ञानवृत्ति करती है। कितना सीधा सुगम उपाय है अपने आपको शान्त बनाये रखनेका? इसके लिए तीन शल्यों का त्याग करना सबसे पहिले आवश्यक है। वे शल्य हैं मायाचार, मिथ्यात्व और निदान। यह शास्त्रोक्त बात है, पुरानी है, फिर भी यह रोज-रोज नई ही बात है। जैसे ऋतु पुरानी होती जाती है और नवीन ऋतु अपनी नवीनता ही प्रकट करती रहती है, ऐसे ही ये उपदेश पुराण पुरुषोंके दिए हुए हैं, लेकिन ये सदाको जीवोंके लिए कल्याणभूत हैं।

मायाचारकी अनावश्यकता— मायाचारमें जिसका हृदय रगा हुआ है वह धर्मपालनका पात्र नहीं हो सकता है। बहुत बड़ी गंदगी है मायाचार। इस जगत्में कौनसा राज्य जमाना है, कौनसी विपत्ति मेटना है, किसकी प्राप्तिके लिए मायाचारका परिणाम किया जा रहा है? शुद्ध सरल चित्त रहते कुछ मिलता हो तो मिल जाय, न मिलता हो तो मत मिले। जो दु ख भोगने का साहस नहीं रख सकता उसे आनन्द पानेका अधिकार नहीं है। सासारिक सुखके बीच रहकर आनन्द नहीं मिलता। आनन्द तो शुद्ध ज्ञानवृत्तिसे मिलता है। किसके लिए मायाचार करनेका परिणाम बनाएँ? यह मायाचार प्रभुका दर्शन नहीं करने देता। वक्रताको दूरकर हार्दिक आशय स्वच्छ बनाना मायानिवारण है।

मिथ्यात्व व निदानसे आत्मविघात— दूसरी शल्य है मिथ्यात्व, मोह। किसी भी परवस्तुमें ऐसी श्रद्धा जम जाना कि यह मैं हू, यह मेरा है—यह कल्पना, यह शल्य इस जीवको बहुत परेशान करती है। इस कल्पना को मिटाना यह दूसरी शल्यका निवारण है। तीसरी शल्य है निदान। निदानमें पचइन्द्रिय और मनके विषयोंके साधनोंकी इच्छा, आशा, प्रतीक्षा बनाए रहना यह निदान है। क्या होगा कुछ वर्षों बाद, इसका ठिकाना कुछ नहीं है, लेकिन पचासों वर्षोंके और परभवके भी निदान बाधे जा रहे हैं। अरे वर्तमानमें जो आनन्दमय तेरा ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि करके वर्तमान

का अतुल आनन्द तो लूट ले। भावी चिन्ता, निदान करके क्यों वर्तमान समय भी खराब कर रहा है और अगला समय भी खराब कर रहा है। यह निदान भी शूलकी तरह जीवको पीड़ा दिया करता है। निष्काम आत्म-स्वभावको निरख कर निदानशल्य मेटें।

निःशल्य पद्धतिसे सशल्योंकी सुकुमार चिकित्साका सकल्प— यों तीनों शल्योंसे रहित होकर ज्ञानजागृतिके लिए अपना प्रयत्न रक्खो तो उसमें अवश्य ही अतुल आनन्द का अनुभव होगा, जिस अनुभवके प्रसादसे ये शरीरके बन्धन, कर्मके बन्धन, जन्ममरणके संकट—ये सब टल जायेंगे। आचार्यदेव इसही आरोग्य अवस्थाको पहुंचानेके लिए सुकुमार क्रिया रूपमें सम्यक्त्वकी आराधनाका उपाय बतावेंगे।

विषयविषप्राशनोत्थितमोहज्वरजनित तीव्रतृष्णस्य।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः, पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥१७॥

मोहज्वरपीडित जीवको सुगम चिकित्साका आश्वासन— हे आत्मन्! अनादिकाल से विषयविषके अधिक भोजन कर लिया जाने से महान् मोहज्वर तुझे हुआ है और इस मोह ज्वरसे तीव्र तृष्णा पैदा हुई है। तृषा पैदा हुई है और उस तृषा के कारण तू कमजोर हो गया है, पर घबड़ा नहीं, तेरी इस कठिन बीमारीमें पेय जैसा सुकुमार इलाज किया जायगा। आचार्य देव सुकुमारक्रियाके सम्बन्धमें बारबार करुणाबुद्धिसे कहते जा रहे हैं कि तुझे जो कुछ उपाय बताये जावेंगे, वे सब तेरे मन माफिक होंगे, कहीं कष्ट न आयेगा। तू धीरे धीरे उन्हें हृदयमें रख। तेरी चिकित्सा बहुत सुकुमार होगी, क्योंकि ऐसी कमजोरीमें सुकुमारचिकित्सा ही ठीक बैठती है।

विषयविषभोक्ताकी आसक्ति— यह विषयरूप भोजन-विषम भोजन है, जो सुपच नहीं हैं। जीवों को ये विषय भोग बड़े सस्ते मालूम पड़ रहे हैं। बल है, साधन है, इन विषयोंका भोगना बहुत सुगम मालूम होता है, लेकिन ये विषय बड़े मंहगे पडे गे। वर्तमानमें भी इनसे महान् क्लेश होगा और परलोकमें भी इनसे महान् क्लेश बनेगा। जैसे किसी पुरुषके विरुद्ध भोजन हो जाय तो उस भोजनसे तृषा उत्पन्न होती है और उसमें सामर्थ्य घट जाती है। उस समय किसी पीने योग्य पेयकी दवाका ही इलाज होता है। ऐसे ही तू बड़ा निःशक्त हो गया है, मोहज्वरसे पीड़ित है। तुझे भी बहुत सुकुमार यह उपदेश दिया जायगा। यहां विषयोंको विषकी उपमा दी है, यह तो विषसे भी बुरा है। विष तो एक ही भवमें प्राण हरता है, किन्तु ये विषय न जाने कितने भवोंमें इस जीवको रुलायेंगे। कोई गरिष्ठ भोजन करले और उसे कोई गरिष्ठ ही औषधि दे दी जाय तो यह उसका इलाज

उचित नहीं है। ऐसे ही विषयोंकी वासनासे जो वेदना उत्पन्न हुई है उसके इलाजमें कोई विषयभोगोंको ही चिकित्सा माने तो वह उसके विपरीत चिकित्सा है।

रागवेदनाकी चेष्टायें— भैया! राग कर करके किस जीव की भलाई सम्भव है? पुराण पुरुषोंको देखो—जब तक राग रहा तब तक क्लेश ही सहना पड़ा। भरत बाहुबलिका आख्यान सुना ही होगा। जब तक वे राज्यमें रहे, भरत अथवा बाहुबलि, उस राज्य की लिप्साके कारण दोनोंकी कैसी गतियां होती रहीं? लोग सुनकर उसे मूढता भरा काम बताते हैं। भरत चक्रनगरीमें प्रवेश नहीं कर सका तो उसे यह परख हुई कि कोईसा राजा अभी वश करनेके लिए रह गया है, उसने देखा कि बाहुबलि रह गया है। चढ़ाई कर दी। बाहुबलि भी अपना अपमान महसूस करने लगे। उन्होंने भी लड़ाई शुरू कर दी। क्या हुआ, यह बहुत बड़ी कथा है, पर रागवश लड़ लड़कर अतमें हुआ क्या? बाहुबलि विरक्त हो गए, कुछ समय बाद भरत भी विरक्त हो गए। वह नगरी वहीं की वहीं रही, वह पुद्गल समागम वहीं का वहीं रहा और वे दोनों यहासे चल दिये। वे महापुरुष थे, निर्वाण पधारे, पर यहासे तो वे गये, कितना महाभारत हुआ, जिसमें मरने वालोंमें लाखों का तो शुमार होगा ही। न यहां कौरव रहे न पाडव रहे, वही नगरी, वही समागम सब चलता रहा यहींका यहीं। वे यहा से चले गए।

विषयविषरागफल— रागमें किसने सुख पाया है? कोई राग बनाए तो बनता भी तो नहीं है। घरमें कब तक रहें, कब तक प्रेम बढ़ायें, आखिर वियोग होगा ही, मरना पडेगा ही। कोई भी यहा रहनेका तो नहीं है, फिर किसीका राग निभना भी तो नहीं है। राग बनाया क्यों जाय? जब अंत तक यह राग चल नहीं पाता है तो फिर इस रागका राग क्यों करना? ये विषय-विष विषसे भी भयकर हैं। सर्पको विषधर कहा जाता है। सर्पका डसा हुआ मनुष्य एक ही भवमें प्राण देकर गया, पर विषयोंका डसा हुआ पुरुष इतने विकट कर्मबन्ध कर लेता है कि इसे अनेक भवोंमें रुलना पड़ता है। इस जीवको पीठ पीछेकी गुप्त आ पड़ी, विपदाका ध्यान नहीं है और अपनी समझमें जो सामने समागम है उसकी ओर दृष्टि है, उससे अपनेको महान् मानता है।

वैरी विषयसाधन— भैया! जिससे अपने वैरका बदला लेना हो, कोई दुश्मनी निकालनी हो तो सबसे बड़ी दुश्मनी निकालने का तरीका यह है कि उसे विषयोंके साधन जुटा दिये जाएँ। कुछ सम्पदा हो, कुछ ठाठ बाट हो, किसीसे कहीं कुछ प्रेम हो जाय इत्यादि किसी प्रकारकी बातें करदें, यह

सबसे ऊँचा उपाय है किसी से दुश्मनी निकालनेका। तो आप कहते होंगे कि यही तो हमारे मां बाप आदि किया करते हैं। जिससे दिल राजी हो, विवाह हो जाय, अच्छा विषय साधन जुटाया जाय यही तो किया करते हैं। कहां धर्मविद्या पढ़ानेका भाव रखते हैं? तो क्या वे सब दुश्मनीका ही काम कर रहे हैं? कुछ भी उत्तर दे लो। यदि बहुत विवेक रखकर उत्तर चाहते हो तो निमित्त दृष्टिसे यह कह सकते हो कि हा वे दुश्मनी निकाल रहे हैं। गृहस्थ धर्म हैं, पर माता पिता गृहस्थधर्म निभाने जैसा तो शिक्षण नहीं दिलाते, इस ओर दृष्टि ही नहीं है। उनके तो अपना मोह है। मेरा यह कुल टिके, कुल रहे, लोग कह दें कि यह इनका पुत्र है, ये इनके पोते हैं, बस इसीमें ही खुश हो जाते हैं।

मोहीकी निन्दामें प्रशंसाकी मान्यता-- भैया! दुनिया दुनियाकी दृष्टिमें जितनी भी प्रशसा करती है वह सब इसकी निन्दा है, पर यह मोही जीव निन्दाको सुनकर भी खुश रहना चाहता है। इसे वास्तविक महत्त्वका परिचय ही नहीं है। किसी सेठका परिचय दिलाना है तो परिचायक पुरुष यह कहता है कि आप इन्हें जानते हो। यह कौन हैं? इनके चार लड़के हैं, एक लड़का मिनिस्टर है, एक डाक्टर है, एक कन्ट्रैक्टर है, एक कलेक्टर है, बडे ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर हैं। इस प्रशसा का क्या अर्थ हुआ? यह अर्थ हुआ कि ये सेठ जी कोरे बुद्ध हैं। इनके लड़के अच्छे हैं। यदि इनमें कुछ कला होती तो लड़कों का नाम लेकर क्यों इनकी बात कही जाती? इनकी ही बात कहकर क्यो न प्रशसा की जाती? पर वह इसीको सुनकर खुश होता है। वाह हमारी बड़ी महिमा इसने गाई-ऐसा वह सोचता है और प्रशसा कर दी जाय कि साहब इनके एक पचमंजिला मकान है, इनके दरवाजे की सजावट बहुत अच्छी है, नक्काशीसे खुदी हुई पत्थरकी चौखट ऐसी है कि आजकल कोई खोद नहीं सकता। यह परिचय दिया जा रहा है श्रीमान् जी का। अर्थ क्या निकला कि उन अचेतन पत्थरोंमें तो कुछ कला है, पर इन सेठ जी में कोई कला नहीं है। ये तो उस सेठको सीधी-सीधी गालियां सुनाई जा रही हैं। मगर वह सेठ सुनकर खुश होता है।

दुनियावी यशकी स्वीकारता भी वास्तविक अपमान— कोई कहे कि यह नेता बड़ा परोपकारी है, दूसरोंके उपकारके लिए यह अपना तन मन सब कुछ न्यौछावर कर रहा है। वह सेठ तो जानता है कि इसमें हमारी प्रशसा हो रही है, पर वहां यह कहा जा रहा है कि यह सेठ इतना भौंदू है कि इसे अपने स्वरूपका कुछ पता नहीं है। बाहर ही बाहर इसकी दृष्टि

रहती हैं और परपदार्थोंमें कर्तृत्वका यह आशय बनाये हुए हैं, कहा यों जा रहा है, पर वह खुश हो रहा है कि मेरी प्रशंसा की जा रही है। पर्यायबुद्धि ही एक विपदा है। किसी दिन तो यहां का सारा समागम छोड़कर जाना ही पड़ेगा। यदि आपके जीते जी यह समागम बिखर रहा है तो अब भी बहुत गनीमत है, कुछ तो पल्ले हैं। मरने पर तो कुछ भी पल्ले नहीं रहता। क्यों नहीं इतना साहस जगता है कि बाहरमें जो कुछ जिसका होता हो, होने दो। मुझे अपने धर्मसे नहीं चिगना है, अपने आचरणमें ही हमें रहना है।

सर्व स्वकार्यमें स्वतन्त्रता— भैया! यह आत्मा आजाद है। यह गुलाम होकर गुलाम नहीं बन सकता है, आजादीसे ही गुलाम बनता है, वस्तुमें ऐसा स्वरूप ही नहीं है कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुके आधीन रहे। प्रत्येक वस्तु अपना सत्त्व रखती है और अपनी परिणमनशीलतासे परिणमती रहती हैं। पुद्गल में तो ईमानदारी चलती है। जैसा जो निमित्त होगा, जहां जैसा परिणमन चलना है चलता है, पर बेइमानी तो यह जीव ही कर सकता है। कल्पनामें क्यासे क्या ठान लेते हैं, अनहोनी को होनी बनाना चाहते हैं, गप्पोंका कुछ ठिकाना नहीं है। यह जीव अपनी स्वच्छन्दता से ही दूसरेका गुलाम बन जाता है। किसी पुत्रसे, स्त्री से, घरसे प्रेम किया और यह अपने आप ही हँसकर अपनी उद्दण्डतासे गुलाम बन जाता है। कोई कुटुम्ब कोई सम्पदा इसे गुलाम नहीं बनाए हुए है। यह खुद ही आजादीके साथ परका गुलाम बन रहा है।

मोहमें मायाकी मायामय चाह— अनन्त सामर्थ्यवान् यह आत्मा है, जिसका ज्ञान विकसित हो तो त्रिलोक त्रिकाल को एक साथ जानें; जिसका आनन्द विकसित हो तो उसमें वेदना की रंच भी तरंग नहीं उठती, पूर्ण निराकुल स्थिति उसके रह सकती है, किन्तु एक अपने आपकी खबर न रखकर, बाह्य पदार्थोंको बड़ा महत्व देकर यह अपनी सुध बुध सब खो चुका है। यह मायामय, अपवित्र, घिनावने शरीर को निरख-निरखकर अपनी शान बढाना चाहता है। मेरी इन सबमें एक विशेष शान रहे। अरे तेरी शान नहीं रह सकती है। तू यहां शान चाहता है तो यह सोलह आने निश्चित है कि तेरी शान रह नहीं सकती। तू बनायेगा शान तो कपटकी दीवारपर खड़ी हुई यह शानकी छत कितने दिन टिकेगी? प्रकृतिमें अन्याय नहीं है, जहां जैसी जो कुछ विधि बनती है उस विधिके अनुसार वे सब बातें होती हैं। तू अपनी कल्पनावोंमें भले ही कुछ मानले, पर न्याय तो न्याय ही है।

अपनी सुधका कर्तव्य— सुखार्थी पुरुषका कर्तव्य यह है कि परवाह न करे बाह्य वातावरण की। सांसारिक शानके पीछे अपने धर्मके पथको न छोडे। प्राचीन पुराणोंमें आप सुनते हैं कि अनेक स्त्रियोंने अपने प्राण गमांये पर शीलकी रक्षा की। इसे सुनकर आजके लोग कह सकते हैं कि यह कौनसा विवेक था? अरे प्राण तो रखने थे, जो होता पीछे निपटते। पुराणोंमें सुना होगा कि साधुजन वनमें ध्यान करते हुए बैठे हैं, स्यालनी भख गई, शेरने खा लिया, शत्रुने चमड़ी चमड़ी छीलकर उधेड़ दिया और ये जनाब साहब वहा ही ध्यानसे बैठे रहे। आजके कुछ लोग कह सकते हैं— वाह- यह कौनसी बुद्धिमानी है? अरे जरा सा हुंकार देते तो स्यालनी त यों ही भाग जाती। बडे-बडे सुभट अपना वैभव छोड़कर साधु हुए हैं, उनमें तो इतनी सामर्थ्य थी कि सिंहको ललकार दे तो वह भाग खड़ा हो, लेकिन इन सबका मर्म जानों। धर्मका पालन इस जीवको स्वरक्षित रक्खेगा और धर्ममें शिथिलता करके धर्मसे बहिर्मुख होकर यदि विकल्पोंमें रुचि की, मोह रागद्वेषकी वृद्धि की तो वह तो भव-भवमे कष्ट देगा। उनका यह पूर्ण निर्णय था और इसी निर्णयके आधार पर उन्होंने अपने प्राण तो गँवा दिये, पर धर्म नहीं खोया।

विषयोन्माद— ये विषय विष खानेमें, भोगनेमे सुहावने और सस्ते लग रहे हैं, पर इनका फल कटु होगा। ये बडे मंहगे पडेंगे। जिन्हें विषयोन्माद रहता है उन्हें अन्ध बताया गया है। विषयोन्मत्त प्राणीने विषयोंके खातिर राजपाट छोड़ा और जगह-जगह भिखारी बनकर अपनी उदरपूर्ति की। ऐसे भी दृष्टान्त सुननेमें आये हैं। विषयसेवनसे जो एक तृषा उत्पन्न होती है, तृष्णा जगती है उस तृष्णामें यह जीव भुन जाता है। इसे फिर शान्तिसे भेंट नहीं होती है।

तृष्णाकी विडम्बना— एक पुरुष था। वह बाजारमें नारियल खरीदने गया। उसने पूछा कितनेमें दोगे? साढ़े सात आनेमें। चार आनेमें न दोगे? चार आनेका चाहते हो तो नागपुर चले जावो। नागपुर गया। कितनेमें दोगे? चार आनेमें। दो आनेमें न दोगे? दो आनेमें चाहते हो तो बम्बई चले जावो। बम्बई गया। कितनेमें दोगे? दो आनेमें। एक आनेमें न दोगे? अरे एक आनेका लेना हो तो देहातोंमें चले जावो। देहातमें गया। कितनेमें दोगे? एक आनेमें। दो पैसे में न दोगे अरे दो पैसे भी क्यों खर्च करते हो, ये पासमें ही नारियलके पेड़ खडे हैं सो तोड़ लावो। पहुचा वह। चढ़ गया पेड़ पर, एक डाल पकड़ली और पैर छूट गए, अब तो वह लटककर रह गया। इतनेमें निकला एक हाथी वाला। हाथी

वाले से कहा कि मुझे उतार दो तो हम तुम्हें ५००) देंगे। हाथी वाला हाथी पर खड़ा होकर उचककर उसे पकड़ने को हुआ कि हाथी खिसक गया। वह भी उसको पकड़कर लटक गया। निकला एक ऊट वाला। उससे उन दोनों ने कहा कि हम दोनों पाच-पांच सौ देंगे, उतार लो। ऊँट वाला भी ऊँटपर खड़ा होकर उचक कर उन्हें पकड़ने लगा तो ऊँट खिसक गया, वह भी उनमें लटक गया। अब निकला घोडे वाला। घोड़ा वालेसे उन तीनों ने कहा कि हमें उतार लो, हम तीनों तुम्हें पाच-पांच सौ देंगे। वह भी घोडे पर खड़ा होकर उसे पकडने को हुआ तो वह घोड़ा भी खिसक गया और वह भी टँग गया। अब सभी अपने से ऊपर वाले से कहते हैं कि भाई छोड़ना नहीं, हम तुम्हें। पाच सौ देंगे। अरे यह सब क्या है? ये सब तृष्णाकी पीड़ाएँ हैं।

तृष्णारुग्णकी चिकित्साका उपक्रम— भैया! अपने जीवनमें ही देख लो, तृष्णाकी वजहसे कितनी विपदा विडम्बना बन जाती है, कितने-कितने अपमान भोगने पड़ते हैं, परिवारजनोंके खातिर कितने-कितने अन्याय करने पड़ते हैं। तो कितने-कितने कष्ट से दु:खी होते रहते हैं और फिर भी उस ही कष्टमें रहते हैं। कोई परिजन इसे बचाने आयेगा क्या? यह विषय विषका भोजन बड़ा कटु फल देने वाला है। ऐसा भोग करके हे आत्मन्! तू बड़ा कमजोर हो गया है। तेरा चित्त नहीं चाहता है कि मैं धर्म करूँ, धर्मकी बात सुनूँ। तो सुन, मैं तेरे मनकी ही कहूगा। तेरा बड़ा कोमल इलाज मैं करूँगा। इस प्रकार आचार्यदेव इन त्रस्त ससारी प्राणियों को सान्त्वना देकर उन्हें धर्ममें लगाने का उपक्रम कर रहे हैं।

सुखितस्य दु:खितस्य च ससारे धर्म एव तव कार्य:।
सुखितस्य तदभिवृद्धयै दु:खभुजस्तदुपघाताय ॥१८॥

धर्मकार्य ही सर्वदा लाभ करता— इस ससारमें समस्त प्राणियोंका यह कर्तव्य है, चाहे वे सुखी हों, चाहे दु:खी हों, प्रत्येक परिस्थितिमें धर्म कार्यमें लगें, क्योंकि धर्मकार्य सुखी पुरुषोंके तो सुख बढ़ायेगा और दु:खी पुरुषों का दु:ख दूर करेगा। यहा जो सुखित कहा गया है उसका अर्थ लेना है सासारिक सुखसे सम्पन्न क्योंकि जो वास्तविक आनन्दसे सम्पन्न है उसे धर्म करनेकी क्या जरूरत है? वह तो स्वय धर्मस्वरूप है। जो धर्मस्वरूप है, जो धर्मस्वरूप अभी नहीं हुआ है, सांसारिक सुखमें अपना परिणमन बनाया है ऐसे पुरुषको बताया है कि वह धर्म करे ताकि जब तक ससारकी परिस्थिति है तब तक उसका यह सुख बढ़ता रहेगा।

सासारिक सुखकी अनुपादेयता— यह सासारिक सुख वास्तविक सुख नहीं है। स्त्रीपरिजन पुत्र विषयसाधन—ये सब छलसे भरे हुए हैं। यह मौज

अपनी विपदाको नहीं देखने देता है और अंधा बनाकर इस जीवको विषयों के साधनमे जुटाये रहता है। जब जीवके हृदयमें खोटी वासना पड़ी हुई है तो उसे कितना भी समझाया जाय, तिस पर भी वह अपनी कुटेव छोड़ नहीं सकता। यह है ससारी प्राणीकी स्थिति। अरे तू सुख चाहता है तो इन सुखोंमें मग्न होने से आगे सुख न मिलेगा। इस सुखमें मग्न होनेसे पाप का बंध होगा, उसके उदयमे दुर्गति सहनी पड़ेगी, तेरा कल्याण न होगा। सासारिक सुख भी कुछ सीमाओं तक धर्मके अवलम्बनसे प्राप्त होते हैं। ये संसारके सुख भी यदि न्यायपूर्वक सीधेसे विवेक रखते हुए भोगे जाते हैं तो वह धर्मसे गिरा हुआ अभी नहीं है। उसकी दृष्टि है धर्मके लिए। जिसकी दृष्टि धर्ममय रहती ही नहीं है वह सुखमे आसक्त हो जाता है, उसे फिर दुर्गतिका पात्र होना पड़ता है।

सम्यग्ज्ञानमें दुःखकी अदृष्टि— दु खी जीवोंको तो धर्म करनेकी चाह ही नहीं है। दुःख नाम है इन्द्रियोंको सुहावना न लगनेका। दु खसे जो पीड़ित पुरुष हैं उनको भी चाहिए कि इस धर्मका सहारा लें। दु ख केवल एक कल्पना ही है। वस्तुतः दु'ख किसी जीवको नहीं है। जो पदार्थ जैसा है, उसका जैसा स्वरूप है तैसा ध्यानमे आ जाय, वहां दुाख ठहर ही नहीं सकता। यह मैं आत्मा देह तकसे भी न्यारा हू। किसी क्षण किसी दिन इस देहको त्यागकर भी मैं जाऊँगा। जब यह देह तकसे भी न्यारा है तो अन्य वस्तुवोंसे तो न्यारा नियमसे ही है। अन्य सब सम्बन्ध तो कल्पित हैं। बस अपने अंदरमें ऐसी श्रद्धा बनावो कि मैं समस्त जगतसे न्यारा हू, तो इस श्रद्धामें ही यह कला है कि उसको कष्ट नहीं रहेगा।

मोहकी सैनसे कषायवैरियोंकी प्रबलता— जगत्के मोही प्राणी अपनी सुध खोकर बाह्यकी ओर बेहताशा भागे जा रहे हैं। दमरी-दमरीकी, पैसे पैसे की तृष्णाका रग चढा हुआ है। जरा-जरा सी बातों पर, अपनी मान-हानिकी समस्या घर कर लेती है। जरा-जरा सी प्रतिकूल बात होनेपर क्रोध की ज्वाला उगलने लगता है। मायाचार का क्लेश तो इसके हृदयमें निरन्तर बसा रहता है। इस शल्यसे तो यह सुखकी नींद भी नहीं सो पाता है, वहा भी यह डरसा लगा रहता है कि कहीं मेरा मायाचार प्रकट न हो जाय। इस जीवने अपने आप ही अपनी स्वच्छन्दतासे, सुधबुधको भूलसे दुःख अपने ऊपर ले लेता है।

मोहमें क्लेशकरी श्रद्धा— मोही मनुष्योंको यह श्रद्धा बनी है मोहमें कि मैं ही एक अकेला घरके इन दो चार प्राणियोंकी रक्षा करता हू, इनको पालता हू, खिलाता हू, सुख देता हू। पहिले तो यह सोच लो कि यह मनुष्य

रात दिन श्रम करके शारीरिक कष्ट सहकर आकुलता भोगकर घरके दो चार प्राणियों को खिलाता है तो पुण्य किसका बडा है ? पुण्य तो उन घरके दो चार जीवोंका बड़ा है, जिनको यह बडे आरामसे रखना चाहता है उनका बड़ा पुण्य है और उनके पुण्यके ही कारणके निमित्तसे इसे रात दिन उनकी सेवा शुश्रूषा करनी पडती है। जिनका बडा पुण्य है उनके पालनेका यह मनुष्य श्रम कर रहा है। मैं इन्हें पाल रहा हू। अरे यह मनुष्य इन जीवों को पाल पोप नहीं रहा है, किन्तु अपने मोह अपनी कल्पनासे जो वेदना उत्पन्न होती है, जो एक कल्पना जगी है, उस पीडाको मिटानेकी चेष्टा कर रहा है। कोई जीव किसी दूसरेको न पाल सकता है, न रक्षा कर सकता है। सभी जीव स्वय स्वरक्षित हैं, सबका अपना-अपना उदय उनके साथ है। यह जीव व्यर्थ ही कल्पनावश दु खी हो रहा है।

मोहकी लीला— देखो भैया! मोहकी लीला, जिसके पास आज जितनी सपदा है वह उसी सम्पदाको कम अनुभव कर रहा है। कदाचित् इससे चौथाई ही होती या होती नहीं है। लोगोंके पास देखलो किसीके आपकी सम्पदाका १०० वा हिस्सा भी नहीं है। क्या ऐसे ही तुम न हो सक्ते थे ? उनका भी गुजारा होता है, लेकिन मोहका तृष्णाका रग ऐसा चढ़ा हुआ है कि अपनी वर्तमान स्थितिमें सतोष नहीं। तृष्णासे दो नुक्शान हैं। एक तो यह कि वह धर्मकार्य नहीं कर सकता, मन कहासे लगे ? जब एक सम्पदासचयमें, तृष्णाकी वृद्धिमें चित्त लगा रक्खा है तो धर्मके लिए कहा तो समय है, कहा उत्साह जगेगा, कहा यत्न करेगा ? यह मोही पुरुष तो अपने तन, मन, धन, वचन सब कुछ मलिन मोही जीवोंके खुश करने के लिए लगा रहा है। यह अपने हितके लिए क्या कर रहा है ? यह मुग्ध जन मन, वचन, काय व धनका उपयोग मोही जीवों के लिए कर रहा है, खुदके लिए कुछ नहीं कर रहा है।

तन मनका सदुपयोग— भैया! इस शरीरको काममें लगाइये धर्मके लिए। यात्रा, पूजन, स्वाध्याय, सत्सग, गुरुसेवा, धर्मीजनोंका उपकार—इन बातोंमें इस तनको लगायें तो यह हुआ तनका सदुपयोग। सब जीवोंका भला विचार करें। सभी जीव सुखी हों, यह है मनका सदुपयोग। भला दूसरे जीवोंको बुरा विचारने से क्या उनका बुरा हो जायगा ? सम्भव नहीं है। इसका जो बुरा विचार है इस ही बुरे विचारका निमित्त पाकर नियमसे इसके पापबध होता है और उस पापके उदयमें अवश्य ही फल मिलेगा। दूसरेका बुरा विचारने से इस विचारने वाले का ही बुरा हो जाता है। फिर क्यों भ्रम और अज्ञान लादा है, अपने आप ही अपने आप पर क्यों इतना

कष्ट लादा है। अपने ही हाथ अपनी हत्या क्यों की जा रही है ? सब जीव सुखी हो—ऐसी निर्मल भावना बनानेमें तेरा कुछ बिगाड़ है क्या ? अरे मिलता सब कुछ है—स्वरूपदृष्ट रहेगा, धर्मका पथ मिलेगा, वर्तमानमे शान्ति मिलेगी, पुण्य भी बढेगा, लोगोंके प्यारे रहोगे, सबका आकर्षण रहेगा। यदि मन स्वच्छ रक्खा और जीवोंके हितकी कामना रक्खी तो यही है मनका सदुपयोग।

धन व वचनका सदुपयोग— धनका सदुपयोग यह है कि कोई धर्मका कार्य पड़ा हो, कोई दु:खी दीन संकटमें पडा हो, ऐसा ही कोई अवसर हो तो यह जानों कि धन तो भिन्न चीज है, यह मेरे स्वरूपसे चिपकी हुई चीज नहीं है। इसका सदुपयोग करलें, धनका सदुपयोग करनेसे धन कम नहीं होता है, बल्कि पुण्यरस बढता है और फिर इससे भी अधिक कई गुणी लक्ष्मी प्राप्त होती है, लेकिन मोहमें यह जीव घरके उन दो चार जीवोंके लिए ही अपना सब कुछ खर्च करेगा। धर्मकार्योंके लिए इस व्यामोहीका उत्साह नहीं जगता है। धनका सदुपयोग है धर्मकार्यमें व्यय करना। वचनों का सदुपयोग है अपनेको भी विपदा न आये, दूसरोंको भी विपदा न आये इस प्रकारके वचन बोलना। खुद भी पापमें न लगें, दूसरे भी पापमें न लगें, इस प्रकारका निर्दोष शुद्ध वचन बोलना। इसका सदुपयोग करना उचित है। इन मोही मलिन कल्पित इष्ट जनोंके लिए धन खर्च कर देना, इसका नाम उदारता नहीं है।

संसारवासी सर्वजीवोंका कर्तव्य— संसारमें कोई जीव सुखी हो अथवा दु:खी हो—सबको यह आवश्यक है कि वे धर्म कार्य करें। यह संसार भावकी दृष्टिसे तो अपना अपना जो रागद्वेष मोहका परिणाम है इसका नाम है। यह जीव संसारमे बस रहा है इसका क्या अर्थ लेना है कि यह जीव अपने आपमें जो रागद्वेष मोहकी तरंगें उठाता है उन तरंगोंमें गड़गप्प है, उन रागादिक भावोंमें बस रहा है, यह है भाव दृष्टिसे ससारमें बसने का अर्थ। बाह्यदृष्टिसे ससारमें बसनेका अर्थ यह है कि यह जीव नाना प्रकारके शरीरोंमें बस रहा है। एकेन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पचइन्द्रियके जो ये शरीर हैं, इन शरीरोंमें बस रहा है, फँस रहा है और उपचार दृष्टिसे ससारमें बसनेका क्या अर्थ लेना कि यह जो लोक है, जिसका विष्कम्भ ३४३ घनराजू प्रमाण है, इस क्षेत्रमें यह जीव भ्रमण कर रहा है।

लोकविष्कम्भ— भैया! लोकका नक्शा देखा होगा पुरुषाकार है। जैसे ७ बालक एक लाइनमें एकके पीछे एक खडे कर दिये जाये और दोनो पैरोको वे सब पसार कर खडे हों, अपने दोनों हाथ कमर पर रखकर खडे

हों तो यह लोकका ही एक आकार बन जाता है। उससे यह जान जावो कि यह लोक किस दिशामें कितना लम्बा चौड़ा है? एक बालककी मोटाई एक राजू व लम्बाई १४ राजूका दृष्टान्त मान लें। नीचे से ऊपर तक १४ राजू और मोटाईमें ७ राजू—और सामने से नीचे ७ राजू, बीचमें एक, टेहुनियों पर ५ और गर्दन पर एक राजू-इतने क्षेत्रका घनफल निकाला जाय तो ३४३ घनराजू प्रमाण बैठता है। एक राजूका बहुत बड़ा प्रमाण है। यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन का है। दो हजार कोशका एक योजन होता है, उसको घेर कर लवण समुद्र है, वह एक ओर दो लाख योजनका है, उसको घेर कर एक ओर ४ लाख योजन का द्वीप, फिर आठ लाख योजनका समुद्र है। यों असंख्यात द्वीप और समुद्र चले गए हैं और क्रम-क्रमसे दूने विस्तारका घेरा होता जाता है। इतने द्वीप, व समुद्र जितने विस्तारको घेरे वह एक राजूसे भी कम हैं। ऐसे ही एक राजू मोटा, एक राजू चौड़ा, एक राजू लम्बा इसको कहते हैं एक घनराजू। ऐसी ३४३ घनराजूप्रमाण लोक है। इतनी बड़ी दुनियामें यह जीव सब जगह अनन्त बार जन्म और अनन्त बार मरण कर चुका है। कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहा यह जीव अनन्त बार उत्पन्न न हो चुका हो। ऐसे इस ससारमें यह जीव बस रहा है।

धर्मका अन्त स्वरूप— ससारमें बसते हुए इस जीवका कर्तव्य यह है कि वह धर्म करे। धर्म नाम किसका है? धर्मको तो सभी कहते हैं, प्रत्येक मानव यह मानता है कि धर्मसे सुख होता है, पर धर्मकी व्याख्या सबकी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार अलग-अलग है। जब सूर्यग्रहण या चद्रग्रहण पड़ जाता है, उस समय गरीब लोग निकलते हैं मुट्ठी-मुट्ठी अन्न मागने के लिए और कहते हैं धर्म करो, धर्म करो। उनकी दृष्टिमें वह एक छटाक अन्न मिल जाना ही धर्म है। कोई धर्म साज श्रृङ्गारमे मानते हैं, कोई धर्म ऊपरी सजावटमें मानते हैं, कोई धर्म दूसरे जीवोंकी किसी पीड़ामें मदद करनेमे मानते हैं। धर्मकी व्याख्या सबकी अलग-अलग है और किसी दृष्टिसे किसी परकी सहायता करना आदि व्यवहारधर्मका अग माना जा सकता है, किन्तु परमार्थसे धर्म क्या है, जिस धर्मके मिलनेसे इस जीवका नियमसे सकट टल जाय। वह धर्म है हम सबको जानते देखते तो रहें, पर किसी भी वस्तुके सम्बन्धमें रागद्वेष का पक्ष उत्पन्न न होने दें। ऐसा अपने को समता की तराजू से तुला हुआ बनाये रहें तो ऐसी स्थितिका नाम धर्म है। इस धर्मके पालने से ही हम आपका उत्थान है।

दुर्लभ मानवजन्मका लाभ— यह मनुष्यभव दुर्लभ बताया गया है, अनेक कुयोनियोंमें भ्रमण कर करके किसी सुयोगसे यह मनुष्यजन्म पाया

है। अब अपने आत्माकी कुछ सुध करे, दूसरे जीवोंके आधीन होकर, दूसरोंके प्रेममें बँधकर अपनी बरबादी मत करे। गृहस्थ धर्म पाया है तो बनायें व्यवस्था, पर अंतरङ्गसे ममता का परिणाम न लावे। अरे पक्षीकी तरह पंख पसारकर किसी दिन उड़ गया, फिर रहा क्या तेरा यहा ? किस चीजके लिए इतना श्रम कर रहा है, इतना निदान बना रहा है, इतने मसूबे बढा रहा है ? धर्म ही एक प्रधान कर्तव्य है, क्यों शेखचिल्लीपन किया जा रहा कि दुनिया मुझे जान पाये, मान पाये। अरे किन्हीं लोगोंके जान जाने से कहीं मेरा उत्थान न हो जायेगा। ये दुनियाके मायामयी जन अर्थात् इस देहके बन्धनमें बँधे हुए लोग, जन्म मरणके सकट सहने वाले लोग यदि मुझे जान गये कि यह बहुत अच्छा है, पढ़ा लिखा है, सम्पन्न है, कुछ भी शब्द कह डालें, तो ये शब्द मेरा कौनसा भला करने वाले हैं ? अरे तू तो इस जगत्में असहाय है। तेरा सहाय तेरा ही सदाचार है, तेरा ही सत्य श्रद्धान् है, तेरा ही सम्यग्ज्ञान है, तेरी ही करतूत तेरी सहायता करेगी। दूसरा कोई सहायता करने वाला नहीं है।

धर्मका स्वरूप व धर्मपालनका लाभ— धर्मका अर्थ है कि तू अपना परिणाम इतना निर्मल बना कि तू जगत्का साक्षी रह सके, ज्ञाता द्रष्टा रह सके, रंच भी राग और ममताकी श्रद्धा न जम सके। गृहस्थ राग करता है पर यह मेरा है, इस प्रकारका ममत्व परिणाम रच भी नहीं रखता है। यदि श्रद्धामें ममता रच भी आ जाय, परमाणु मात्र भी यदि अत श्रद्धामें राग आ जाय तो उसे अज्ञान बताया है। वह शान्तिके पथ पर अपना कदम नहीं रख सकता। कोई जीव सुखी हो तो भी धर्म करे दु खी हो तो भी धर्म करे। धर्म सुखी जीवोंको सुख बढायेगा, धर्म दु खी जीवोंका दु ख दूर करेगा। जैसे लोकव्यवहारमें धन कमाना अच्छा कहते हैं, धनार्जनसे जिसके ऋण नहीं है उसके धन बढ़ेगा, जिसके ऋण है कर्ज है, वह अपने उस कर्जको चुका देगा, पर कमाना तो सभी अवस्थावोंमें व्यवहारीजन योग्य मानते हैं। कर्जदार हो वह भी कमाये, न कर्जदार हो वह भी कमाये। कमाना धनकी वृद्धिका कारण है। जैसे व्यवहारमें लोग यह मानते हैं, ऐसी ही धर्मकी बात समझिये। कोई जीव सुखी हो, धर्म करे तो उसका सुख बढ़ेगा, कोई जीव दु खी हो धर्म करे तो उसका दु ख दूर होगा। सभी अवस्थावोंमें धर्मका साधन करना कल्याणकारी है।

धर्मका शब्दार्थ व धर्मोपासनाका अनुरोध— भैया ! एक बार फिरसे दृष्टि इस ओर लायें कि धर्म करना कहते किसे हैं ? धर्म शब्दमें ही खुद अर्थ समाया हुआ है। धर्म नाम है—पदार्थ आत्मनि य स्वभाव वर्त्त स धर्म ।

पदार्थ अपने आपमें जिस स्वभावको रखता है उस स्वभावका नाम धर्म है। लोग कहते भी हैं--जिसका जो स्वभाव है उस स्वभावके अनुसार काम करे। लोग कहा करते हैं कि यह तो अपने धर्मपर डटा है। मेरे आत्माका स्वभाव है ज्ञातादृष्टा रहन, जाननहार रहना। जाननका काम किसी भी जीव में एक क्षण भी वद नहीं होता है। क्रोध करनेका काम वद हो जायगा। कहा तक कोई क्रोध करेगा? घमड करनेका काम समाप्त हो जायगा। कहा तक कोई घमड बगरायेगा? मायाचार भी विश्रात हो जायेगा। लोभ कषाय भी उपशान्त हो जायगा। कोई कषाय स्थिर नहीं रह पाती और कषायें कभी नष्ट भी हो सकेंगी, किन्तु ज्ञान सभी अवस्थावोंमें रहेगा। क्रोध करे, मान करे, मायाचार करे, लोभ करे तब भी ज्ञान साथ है। कषायरहित हो जाय तब भी ज्ञान साथ है। तो यह ज्ञान आत्मस्वभाव है और केवल जाननहार रहना यही धर्मका पालन है, अत ज्ञानार्जन करके, आत्ममनन करके अपना परिचय पा करके एक ज्ञातादृष्टा रहनेरूप धर्मका यत्न करें। अपना दुःख हम आप सबकी अपनी ज्ञान कलासे दूर हो सकेगा, उद्दण्डतासे तो दुःख ही होगा।

धर्मारामतरूणा फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि।
सरक्ष्यतास्ततस्तानुच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥१९॥

सुख मूलकी रक्षाका आदेश— ससारके जितने भी सुख हैं वे सुख भी किसी सीमा तक किए गये धर्मके फल हैं। ये सुख अभीष्ट हैं तो उनके कारणभूत धर्मवृक्षकी रक्षा कर व सविवेक सुखफल को भोग। ये सुख ६ रूपोंमें विभक्त हैं। कोई सुख स्पर्शन इन्द्रियजन्य है, कोई रसना इन्द्रियजन्य, कोई घ्राणइन्द्रियजन्य, कोई चक्षुइन्द्रियजन्य और कोई कर्णइन्द्रियजन्य सुख होते हैं। कुछ सुख मनके विषयके होते हैं। इन ६ प्रकारके सुखोंमें किसी भी सुखमें कोई आसक्त हो जाय तो वह पापी है, दुरात्मा है, धर्मकी जड़को खोदकर फक रहा है।

स्पर्शनविषयसुखासक्तिका परिणाम— स्पर्शनइन्द्रियके सुखमें ठड, गरमी, कोमल आदिक स्पर्श भी सम्मिलित हैं और सबसे निकृष्ट स्त्री कामविषयक वासनाके सुख भी निहित हैं। जो पुरुष स्पर्शनइन्द्रियके विषयसुखमें आसक्त रहते हैं वे अपने ब्रह्मस्वरूपका घात करते हैं, प्रभुसे विद्रोह करते हैं। वह प्रभु न वर्तमानमें सुखसे चैनसे रह सकता है, न परलोकमें चैन से रह सकेगा। समस्त इन्द्रियविषयोंमें सबसे विषम कठिन विषय काम वेदना को बताया है। इस कामविषयमें बुद्धि नष्ट हो जाती है। कामी पुरुषको कितना ही समझाया जाय, पर कामवेदनाकी एक ऐसी व्यथा है कि वह

पतित विचारोंको छोड़ नहीं सकता है। यद्यपि यह सुख भी पूर्वकृत कुछ धर्मपालनसे बद्ध पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होता है, लेकिन वर्तमानमे सुखका मूल कारण जो धर्म है, उस धर्मका ही कोई घात करता हो तो उसका अर्थ यह है कि भविष्य कालमें वह इस सुखसे वंचित रहेगा।

सुखार्थीका विवेक— जैसे कोई विवेकी बागवान है, वह पेड़ोंकी बड़ी रक्षा करता है, उन पेड़ोंको अनेक उपायोंसे हरा भरा रखता है और उनमें जो फल प्रकट होते हैं उन फलों को भी एकदम तोड़कर नहीं खाता है। एक एक करके उन फलोंको तोड़कर खाया करता है, जिससे ये वृक्ष खूब फल देते रहें और उन फलोंका आनन्द भी बहुत काल तक मिलता रहे। कोई पुरुष फलोंके लोभमे आकर पेड़ोंको जड़से ही उखाड़ दे तो भले ही वर्तमान समयमें वह कुछ फल खा ले, पर आगामी कालमें वह फलोंसे वंचित रहेगा। यों ही ये ससारके सुख धर्मरूपी बागवृक्षके फल हैं। कोई पुरुष इस सुखमें आसक्त होकर धर्मकी जड़ ही काट दे, धर्मवृक्षको उखाड़कर फेंक दे तो भले ही कुबुद्धिवश वर्तमानमें कुछ सुखका भोग करले, किन्तु भविष्यमें उन सुखोंके भोगके योग्य भी वह न रहेगा। मरकर एकेन्द्रिय हो गए, पेड बन गए, दोइन्द्रिय आदि कीडे मकौडे हो गए, अब उनका जीवन कौनसा विकासमय जीवन है ? भैया ! यह मानवजीवन विकास प्राप्तिके लिए मिला है, इसे पाकर अपने विकासका अवसर नहीं खो देना है। यह मन हस्तीकी तरह उद्दण्ड है। जब तक किसी देव शास्त्र गुरुकी आनमें नहीं चलते हैं जब तक इसकी उद्दण्डता नहीं समाप्त कर सकते हैं, तब तक ये जीव अपना उत्थान नहीं कर सकते हैं।

रसनाविषयसुखासक्तिका परिणाम-- रसनाइन्द्रियसे प्रकट होने वाले सुख, रसों और उनके मिलापसे उद्भूत विविधरसके स्वादके सुख हैं। खट्टा, मीठा, कडुवा, चरपरा, कषायला इत्यादि रसोंमें जो आसक्त होकर गिरता है वह धर्मवृक्षको जड़से उखाड़ता है। कोई मनुष्य खट्टे का लोभी है, उसे खटाई का रस ही अधिक पसंद होता है। चाहे उस रसके सेवनसे अनेक बीमारियां हो जायें और अनेक उपद्रव खडे हों, फिर भी जो जिस रसका लोभी है वह उसकी बान नहीं छोड़ता है। कोई मीठेका लोलुपी है, मीठा विशेष खानेसे दांतके मसूड़े भी कमजोर हो जायें, दांतोंमे कीडे भी पड़ जायें, पेटमें भी कीडे पड़ जायें, लेकिन उस मिष्टके लोभमे आकर यह अपना वर्तमान और भावी कुछ भी कल्याण नहीं गिनता है। कोई कड़ुवे रसका लोभी होता है। करेले कड़ुवे हुआ करते हैं, मेथी कड़ुवी होती है, कई चीजें बड़ी कड़वी होती हैं, पर उनको खानेकी भी बहुतसे लोगोंको रुचि

जगती है। कोई चरपरी, कषायले आदि पदार्थोंके खानेका लोभी है। इन रसोंके सेवनसे कुछ सुख तो होता है और ऐसा सुखसाधन मिलना आपके वर्तमान कल्पनाके वशकी बात नहीं है। पुण्यके उदयमें मिलता है और विशिष्ट पुण्यका सम्बन्ध उस जीवके होता है, जिसके धर्मकी दृष्टि रहती है। तो ये सुख भी धर्मके ही फल हैं, किन्तु जो इन सुखोंमें गड़गप्प होकर गिरते हैं, वे धर्मकी जड़ काटते हैं।

घ्राणविषयसुखासक्तिका परिणाम— घ्राणइन्द्रियका विषय ले लो, इसमें भी कितनी मूढता भरी हुई है। इत्र फुलेल फुवा, सुगंधित कार्ड—इन सबका उपयोग करना, इनसे इस जीवका लाभ क्या है? अरे सहज जो वातावरणमें सौरभ है वह मिल रहा है, ठीक है पर बनावटी और जानबूझ कर इत्र फुलेलोंके लिए श्रम करना अथवा उपयोग लगाना ऐसा तो कोई यहां बड़े पुरुष भी नहीं करते हैं। छोटी प्रकृति वाले लोग इन गन्धोंके शौकमें समय गुजारते हैं। इन्हीं समस्त सुखोंमें आसक्त होकर वर्तमान सुख भी नहीं पाते हैं और भावीकालमें भी सुखसे वंचित रहनेका यत्न करते हैं।

नयनविषयसुखासक्तिका परिणाम— चक्षुइन्द्रियजन्य सुख कुछ सुहावने रूप इसे सुहा गये, सो उन रूपोंके देखनेमें अपनी आखोंको कष्टमें डालते हैं। पलकोंको तेज उठाकर बाहरमें देखते रहनेका यत्न करते हैं। सुहावना है क्या जगत्में रूप? यह शरीर अशुचि धातुवोंसे भरा हुआ है। जिस शरीरसे लोग प्रीति करते हैं, जिस शरीरके रूपको लोग टकटकी लगाकर देखते हैं और अनेक प्रयत्न करके जिस इन्द्रियजन्य सुखसे अपना मन भरते हैं, वह रूप है क्या? इस शरीरमें चाहे कोई कितना ही निरोग हो, परतु ढाई, तीन, चार सेर मल हर समय पेटमें पड़ा रहता है। यदि न पड़ा रहे, कम हो जाय तो उसकी मौत हो जायगी। यह मुख जो सारे शरीरमें विशेष कामी जनोंको प्रिय रहता है, जितना मल इस मुखमें भरा है, उतना मल तो हाथ पैरोंमें भी नहीं है। नाक, थूक, कफ, लार, खकार, कीचड कलेऊ आदि कितने ही मल इस मुखमें पड़े हुए हैं। जो मलसे भरा हुआ शरीर है उसमें मोहीजन, कामीजन आसक्त होते हैं। उनकी इस आसक्तिका यह फल होगा कि अब वह अपने धर्मकी जड काट रहे हैं, सो भावी कालमें उनको आखें तक भी न मिलेंगी। जैसे कोई कीडे होते हैं, जिनके आखें भी नहीं हैं। उसका एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय जीवोंमें जन्म होगा जो इन आखोंका दुरुपयोग करेगा।

कर्णविषयसुखासक्तिका परिणाम— कर्णेन्द्रियका सुख—थोडे राग भरे वचन सुन लिये, गीत सगीत सुहावनी चटक मटककी बातें सुन लीं,

इनमें ही लोग मस्त रहते हैं। कहीं गप्पें छिड़ जायें तो उन गप्पोंमें उनका समय बहुत मौजसे कटता है। उस गप्पसभा को छोड़कर जानेको जी नहीं चाहता है। यह सब कर्णेन्द्रियका दुरुपयोग है। जो आसक्त होकर कर्णेन्द्रिय के विषयोंमें लगेगा वह धर्म बागके वृक्षको ही काट रहा है। फिर इस सुख फलको वह पायेगा कहां से ?

मनकी उद्दण्डतायें— मनका विषय तो बड़ा ही चंचल है। कितने ठौर हैं इस मनके ठहरने के ? उन ठौरोंमें यश प्रतिष्ठा नामकी चाह यह सब से विकट ठौर है। छोटा बच्चा भी गोदमें चढ़ा हो और उसे गोदसे हटाकर नीचे रख दें तो वह रोने लगता है। वह भी यह महसूस करता है कि अभी मैं ऊँचे चढ़ा था, अब नीचे गिरा दिया गया हू, सो अपमान महसूस करता है, और की तो कहानी क्या है ? वृद्ध अवस्थामें भी लोग बड़ी चिड़चिड़ाहट उत्पन्न कर लेते हैं। वे भी पद-पद पर अपना अपमान महसूस करते हैं। लड़के बडे हो गये, उनका सब कार्य भी ठीक चल रहा है लेकिन फिर भी जरा-जरासी बातोंमें अपना अपमान महसूस करते हैं। कहां तो अब उनके धर्म करनेके दिन हैं और कहा व्यर्थका रोष करके अपना जीवन गँवाये जा रहे हैं। वे वृद्ध पुरुष अपना अपमान महसूस करते हैं और दुःखी होते हैं। जवानोंको तो जगह-जगह जरा-जरा सी बातोंमें अपमान महसूस होने का ठिकाना मिल जाता है। किसी ने बात न मानी, और तो जाने दो कोई पहिले राम-राम ही न कर पाये, लो यह भी अपमान महसूस करनेका कारण हो जाता है। इसने मुझसे नमस्ते नहीं किया, ये देहाती लोग हमसे जुहार भी नहीं करते, जरा-जरा सी बातोंमें अपना अपमान महसूस करते हैं। अरे तुम ही पहिले नमस्ते करलो। घरमें स्त्री पुत्रोंने कहना नहीं माना, लो इससे अपना अपमान मान लिया। अरे इतना भी सब्र नहीं है कि ये बिचारे मुझे नाथ समझकर आश्रित रहते हैं, आज्ञा मानते हैं, इन पर कृपा रखें। परन्तु कल्पना बनाकर अपमान महसूस करते हैं। यह मनका विषय बहुत ही अड़विल्ला विषय है। जो इन विषयोंमें आसक्त हो जाते हैं वे अपने मनको काबूमें नहीं रख पाते हैं। वे धर्मवृक्षकी जड़को काट रहे हैं। उनको यह मन भी न मिलेगा। मरनेके बाद यह भी स्थिति हो सकती है। मनरहित असञ्ज्ञी जीव भी तो संसारमें बहुतसे हैं, इन ही योनियोंमें जन्म हो लेगा।

धर्मवृक्षरक्षण व सुखफलविधान— ये समस्त इन्द्रियके सुख धर्मरूपी उपवनके वृक्षके फल हैं। हे सुखार्थी आत्मन् ! तू उन वृक्षों की रक्षा कर, जिन वृक्षोंसे फल मिल रहे हैं, उन वृक्षोंका पोषण चतुर नर किया ही करते हैं।

जिस धर्मवृक्षके ये सांसारिक सुख हैं तू उन वृक्षोंकी रक्षा कर। और फिर इन सासारिक सुखरूपी फलों को धीरे-धीरे, उतावली न करके लौकिक सुखों को अनासक्ति पूर्वक भोग। जैसे वृक्षके फलोंको एक-एक करके धीरे-धीरे वृक्षरक्षक खाते हैं, लाठी मारकर उन फलोंको गिरा नहीं देते हैं, उनकी रक्षा करते हैं, समय पर उन फलोंको भोगते हैं और वृक्षको खूब सुरक्षित रखते हैं, इसी प्रकार इन विषयसुखरूपी फलको तू न्यायपूर्वक बडे विवेकसहित भोग। इनके भोगनेमें उतावली मत कर, अपनी बुद्धि ठिकाने रख, इस धर्मवृक्षकी रक्षा कर। जिन उपायोंसे इस धर्मवृक्षकी रक्षा बन सके, उन बातों को कर।

धर्मका अभ्युदय— भैया ! धर्म तो आत्माका स्वरूप है। आत्माके स्वरूपकी दृष्टिमें, आलम्बनमें धर्मका पालन होता है। धर्मपालनका फल मोक्ष है, इन्द्रियसुख नहीं है। इन्द्रिय सुख तो भुसकी तरह है और मोक्षसुख अन्न उत्पादनकी तरह है। जैसे किसान लोग खेती करते हैं, वे यह नहीं सोचते कि मैं भुस पैदा करनेके लिए गेहू बोता हू। गेहू तो बोते हैं अन्न उत्पन्न होने के लिए। भुस तो अनायास ही मिल जाता है। उस अन्न उत्पादनके प्रयत्नमें भुसका मिल जाना प्राकृतिक बात है, सहज है। ऐसे ही विवेकी पुरुष धर्म करता है तो मोक्षकी प्राप्तिके लिए शुद्ध ब्रह्मस्वरूपमें लीन होने के प्रयोजनसे, पर इस उत्कृष्ट धर्मको करते हुए इस धर्मार्जनके प्रसगमे ये सासारिक सुख मिल जाते हैं, यह तो सहज ही प्राकृतिक बात हैं। जो जीव वास्तविक पद्धतिसे धर्म करता हो उसे जब तक ससारमे रहना शेष है क्या अनेक कुयोनियोंमे जन्म ले लेकर वह क्षण वितायेगा ? वह ऐसे ही बडे महान् सुख में अपना समय गुजारेगा और दृष्टि रक्खेगा इस शुद्ध धर्म की। जो मोक्षके आनन्दका कारण है।

आत्महितका स्मरण— हम आप सब आत्मा हैं। आत्माके नाते से आत्माके हितकी बात कर लें। शुद्धज्ञान, शुद्ध श्रद्धान् और जैसे आत्माका कल्याण हो तैसा अपना आचरण बना लें। यह आपकी निजकी खुदकी बात कही जा रही है। इसका सम्बन्ध समूहसे नहीं है, जनता से नहीं है, धर्म मजहबोंसे नहीं है, धर्म जातियोंसे नहीं है, यह तो तेरे आत्माकी बात है और इस आत्माके कल्याणसे ही सम्बन्ध रखनेकी बात है। यह बड़ा दुर्लभ नर-जन्म पाया है, इसे पाकर कोई अपूर्व काम कर लेना चाहिए। मैं आत्मा धर्मस्वरूप हू। जिसका जो स्वभाव है वह उसका धर्म होता है। मेरा धर्म ज्ञाताद्रष्टा रहना है, ज्ञानका प्रकाश होना, ज्ञानका विकास होना यही तेरा धर्म है। रागद्वेष पक्ष आदि अवगुण तेरे स्वरूपमें नहीं हैं। तू इन अवगुणों

को करता है तो अधर्म करता है। इन अवगुणोंसे हटकर एक शुद्ध ज्ञानरूप परिणमनेका गुण बने, यही धर्मका पालन है।

धर्मके दृढ़ आश्रयका संकल्प— भैया! कैसा भी संकट आये, कुछ भी प्रतिकूल परिस्थिति आये, चाहे प्राण जायें, किन्तु एक वास्तविक धर्म की दृष्टिको मत छोड़ो। अपने आपमें अनादि अनन्त बसे हुए धर्ममय इस चैतन्यस्वभावका आलम्बन ही करो। इस प्रभुताके आलम्बनसे क्लेश होता ही नहीं है। कदाचित् पूर्वकृत कर्मके उदयमें कोई क्लेशका भी प्रसंग आए तो उस प्रसंगमें तू धर्मको और अधिक दृढ़ता से ग्रहण कर। यही तो परीक्षाका एक अवसर है। उसही समय यदि अनुत्तीर्ण हो गए तो बस दिशा बदल गयी, नीचे गिरते जाने की दिशामें चले गए। इस धर्मको किसी भी परिस्थितिमें मत छोड़ो और जिस-जिस बातसे धर्म करते बने, करो।

धर्मोपाय— धर्मके उपायमें प्रथम उपाय तो है वस्तुके स्वरूपका अध्ययन करना। पदार्थका क्या स्वरूप है? उसमें सहज शक्ति कैसी है? इसका अध्ययन करो, और अध्ययनसे जो कुछ जाना है उसकी श्रद्धा करो और उसमें ही अपना उपयोग लगाते रहो। यही है विश्वास, ज्ञान और आचरण। इस समीचीन विश्वास ज्ञान आचरणसे अपने आत्माकी पुष्टि करें। संसारके क्लेशोंको दूर करलें, यह तेरे ही आधीन बात है। तेरा काम कोई दूसरा करने न आयेगा। और अपने इस सही कामको त्यागकर अनावश्यक भ्रमपूर्ण काल्पनिक परद्रव्यविषयक कल्पनाएँ कीं, रागद्वेष बढ़ाया, अपना सर्वस्व मलिन मोही जीवोंको ही सौंपा तो उससे कुछ तेरा भला नहीं होनेका है। तू अपना सर्वस्व देव, शास्त्र, गुरुमें समर्पण करे तो यह तेरे कल्याणका साधक है और रागी द्वेषी मोही मलिन जीवोंको तू अपना सर्व बल दे रहा है, वह क्या साधक है?

कर्तव्यका स्मरण— हे आत्मन्! तू यदि अनुपम विशिष्ट सुख चाहता है तो इन इन्द्रियजन्य सुखोंमें आसक्त मत हो, धर्मकी जड़को हरा भरा बनाये रह, इससे ही तुझे समृद्धि प्राप्त होगी। धर्मसे विमुख होकर तू कभी शान्ति न पा सकेगा। अतः रागद्वेष मोह पक्ष और इस विरोध बुद्धिको दूर करके एक शुद्ध निज सहजस्वरूपके परिचयमें लग और इस आत्मत्वके नाते से तू गुप्त ही गुप्त अपने आपमें अपना कल्याण करले। प्रभुस्वरूप तो आदर्श है उसका चिन्तन करके करना पड़ेगा तुझे ही सब कुछ। जैसे सूर्य तो मार्ग दिखा देता है पर चलना पड़ता है खुदको ही, तब इष्ट स्थानमें पहुंचते हैं। यों ही गुरुजन प्रभुका उपदेश एक मार्ग दिखा देता है, उस मार्ग पर चलना तो तुझको ही पड़ेगा। सत्य श्रद्धान ज्ञान आचरण द्वारा धर्मकी

रक्षा कर और अपने जीवनको सफल कर।

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात् सुखभङ्गभिया मा भूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०॥

सुखकी हेतुता व अविराधकता— धर्म सुखका ही कारण होता है, वह कभी भी अपने कार्यका विरोधी नहीं होता है। इस कारण हे सुखार्थी पुरुषो! सुखके भंग होने के भयसे धर्मसे विमुख मत होओ। लोगोंको दिखने में भी सहसा ऐसा लगता है कि धर्ममें तो कष्ट करना पड़ता है। व्यवहार-धर्ममें पूजन, जाप, चाहे कठिन ठंड भी हो नहाना, उपवास करना, एकाशन करना, पानी पीनेकी मर्यादा रखना आदिक ये तो बहुत कठिन काम हैं। इनसे तो उस ही समय सुखमें फर्क आ जाता है, फिर तो धर्मसे हम आगेके समयके लिए क्या आशा करें? इस प्रकार आशका करते हुए जो लोग धर्म से दूर रहते हैं उनको समझानेके लिए आचार्यदेव यहां कह रहे हैं कि तुम डरो मत। धर्मसे विमुख मत होओ। धर्म नियमसे सुखका कारण होता है, धर्म स्वभावसे ही आनन्द उत्पन्न करता है। यह अपने कार्यका कभी विरोधी नहीं हो सकता है।

कार्यकारणमें विरोधकताका अभाव— भैया! जिस कार्यका जो कारण है, वह उस कार्यका विरोधी नहीं होता है, पहिली बात तो यह है। दूसरी बात यह जानो कि धर्मका तो आनन्द उत्पन्न करनेका स्वभाव ही है। कोई भी स्वभाव धर्मस्वभावका नाश नहीं करता है। इससे समझो कि धर्म नियमसे आनन्द ही उत्पन्न करेगा। जो लोग धर्मका नाम लगाते हैं कि इससे कष्ट है अथवा जहां धर्म ज्यादा होता है वहां दुःख ही है और धर्म के नाम पर किन्हीं-किन्हीं माने गए क्षेत्रोंपर बड़ा अन्याय भी होता है। इस कारण धर्म तो क्लेशका ही कारण है और यह पापरूप है। लेकिन यह समझना चाहिए कि धर्मकी ओट लेकर जो पाप किए जाते हैं, वे पाप हैं पापरूप होनेसे क्लेशरूप धर्म स्वयं पापरूप नहीं है। पापवृत्ति ऐसी कलुषित और चालाक वृत्ति है कि यह अपने अवगुण नहीं प्रकट कराने देती है और धर्मका बाना रखकर यह पाप इस लोकमें नृत्य करता है, लेकिन जिस-जिस समय आपको क्लेश हुआ हो, समझना चाहिए कि कोई पापकी बात आयी है, पापकी बात आये बिना क्लेश नहीं हो सकता है।

क्लेशका कारण पापभाव— जैसे कोई पुरुष इष्टवियोगमें दुःखी है, पुत्र गुजर गया अथवा इष्ट मित्र, स्त्री आदिक गुजर गये तो उसका बड़ा खेद करता है। खेद पाप किए बिना नहीं होता। आप अपने निर्णयमें यह रख लो कि मनुष्य जो परके प्रति मोह भाव कर रहे हैं वह पाप है और

पापपरिणाममें दुःखी होना प्राकृतिक बात है। कोईसी भी दुःखकी घटना हो, समझना चाहिए कि हम कोई पाप कर रहे हैं। पापकर्मकी बात नहीं कह रहे हैं, जो अष्टकर्ममे पापप्रकृतिया आयी हैं वे तो निमित्तरूप वन्धन हैं, किन्तु कुछ खोटा परिणाम किया, कुछ मोह रूप, कषायरूप विषय वाञ्छारूप अशुभ भाव होते हैं उनकी वात कही जा रही है। जितने भी क्लेश होते हैं वे पापभाव से क्लेश होते हैं। यह एक निर्णीत तत्त्व है।

बहिर्मुखताम़े क्लेशहेतुता— कभी ऐसी भी परिस्थिति आए कि आप बड़े सदाचारसे रह रहे हैं, किसीको कोई नुक्सान नहीं पहुचाते, फिर भी कोई दुश्मन बनकर व्यर्थ ही सताए तो उस समय आप यह पूछ सकते हैं कि हम तो कोई पाप नहीं कर रहे हैं। अरे पाप नहीं कर रहे हो तो दुःखी क्यों होते हो? दुःख तो पापपरिणामसे ही होता है। अपने आत्मस्वभाव की दृष्टि छोड़कर किसी भी अन्य कुतत्त्वमें लगें तो वे सव पापभाव हैं। पाप आए विना क्लेश नहीं होता है और प्रकटरूपसे तो रोज-रोज अनुभव कर सकते हैं। किसीके प्रति द्वेष जगे तो क्लेश होगा। किसीका इष्ट अनिष्ट चिन्तन करें तो क्लेश होगा। किसी भी प्रकारके पापकी बातका विचार करें तो अपने आपमें क्लेश वहुत होगा। पापभावका स्वभाव ही है क्लेश देते रहना और धर्मभावका स्वभाव है आनन्द देते रहना। धर्मनाम है राग द्वेष मोह विषय कषायके परिणाम न करना, केवल जानन देखनहार रहना।

वाह्य धर्मवृत्तियोंके बावजूद भी अन्तःअधर्म होने पर अशान्ति— कोई लोग ऐसा सोचने लगें कि भाई दसलाक्षणीके दिनोंमें और विशेषकर अनन्तचतुर्दशीके दिन लोग पूजा करते हों, किसीको अच्छा स्थान नहीं मिला अथवा हिसाव किताव पेश करते समय वडे झगड़े मच जाते हैं। पूजामें भी पहिले यह पूजा न करो, अव यह पूजा करो—इस प्रकारकी कलह लोग करने लगते हैं, वहुत वडे विवाद की चीज लोग वना लेते हैं। तो पद-पद पर धर्मकार्योंमें भी वड़े-वड़े कलह और क्लेश होते हैं। तो धर्म तो सुखका कारण नहीं हुआ। अरे वहां वह धर्म नहीं कर रहा है। जो भी कलह हो रहे हैं, क्लेश हो रहे हैं वे सव पाप भावोंसे हो रहे हैं, धर्मसे नहीं हो रहे हैं। धर्म नाम आत्मस्वभावका है। रागद्वेष न करके शुद्ध जानन देखनहार रहना इसका नाम धर्म है। कोई यह धर्म करके तो देख ले, क्लेश धर्मसे नहीं होता है, क्लेश पापपरिणामसे होता है।

धर्मकी ओटमें पापका नग्न नृत्य— एक किसान था। उसके थे तीन वैल। दो वैल तो खेतपर ले जाय और एक वैलको आंगनमें बांध जाय। उस ही आगनमें बंधे वैल के पास एक अल्मारी थी। किसान अल्मारीमें

दाल रोटी चावल रखकर खेतोंमें काम करने चला जाता था। वहाँ कोई बंदर आकर अलमारी खोलकर रोज-रोज सारी दाल रोटी चावल खा जाय और जो कुछ बचे उसे बैलके मुखमें पोत जाय। किसान आये और मुखमें लगा हुआ देखे तो उसे खूब पीटे। १०-१२ दिन बाद एक पड़ोसी ने समझाया कि इस बैलको न मारो, यह दाल रोटी नहीं खा जाता है, कोई और कुछ बात है। एक दिन छिपकर देखो, कौन खा जाता है? उसने छुपकर देखा तो बंदरको सारी क्रियाएँ करते हुए पाया। आया, अलमारी खोली, दाल रोटी चावल सब कुछ खाया और जो कुछ बच गया उसे बैलके मुखमें पोतने लगा। उसी समय उस किसानने आकर बंदर को पीटा या कुछ भी हुआ हो, पर जैसे वह बंदर इतना चालाक था कि उपद्रव तो करे खुद और बैलके मुखमें दाल चावल पोतकर नाम लगावे बैलका। ऐसे ही जानों कि ये पाप अपमान, बदनामी, अप्रभावना आदि सभी पापके काम करके धर्मके मुँहपर अपजस लपेट कर उद्दण्डता करते हैं। नाम बदनाम होता है धर्मका, पर धर्म कभी बुरा नहीं होता है। बुरा तो यह पाप ही है।

ज्ञातृत्वधर्ममें क्लेशका अभाव— पापसे क्लेश होता है, धर्मसे सुख होता है—इसमें रंच भी सदेह नहीं है। कोई इष्ट वियोग हो जाय, चित्तसे वह उतरे ही नहीं, बड़ी वेदना है, अचानक मर गया, उसकी ओर बड़ा आकर्षण था, निरन्तर शोकमग्न हो रहे हैं, उस दु:खको कौन मिटा सकता है? क्या किसीमें यह सामर्थ्य है कि जिसका वियोग हुआ है उसको सामने लाकर धर दे? किसीमें सामर्थ्य नहीं है। कौन मिटायेगा उसका शोक? ज्ञान मिटायेगा। जब चित्तमें यह बात सामने आ जाय कि मैं आत्मा अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र देह तकसे भी न्यारा केवल अपने स्वरूपरूप हूं, और जिसका वियोग हुआ है वह अत्यन्त जुदा जीव था। अपने कर्मानुसार शरीरमें आया था और अपने कर्मानुसार देह छोड़कर चला गया। उससे मेरा रंच भी सम्बन्ध नहीं है, यह ज्ञानकिरण आये तो क्लेश मिटे। इस ही ज्ञानका नाम तो धर्म है। धर्म आये तो दु:ख मिटे। मोह करना पाप है और निर्मोह होना धर्म है। मोहसे क्लेश है, निर्मोह भावसे नहीं है। रागद्वेष पक्ष करना अधर्म है। हम दु:खी होते जायें अधर्मके ही कारण और उस दु:खको मिटाने का उपाय अधर्म करना ही समझें तो कैसे उद्धार हो सकता है?

संसारियोंके सुखके प्रयत्नकी विफलता— संसारके प्रत्येक जीव सुख चाहते हैं और दु:खसे डरते हैं और वे जितने भी प्रयत्न करते हैं दु:खके दूर करनेका और सुखके अनुभवनका प्रयत्न करते हैं, किन्तु प्रयत्न सारे निष्फल चले जा रहे हैं। बहुत प्रयत्न किया, पर दु:ख दूर नहीं हुआ—ऐसा

सभी अनुभव कर रहे हैं। बतलावो सुखप्राप्तिके भावसे ही गृहस्थी बसाते हैं, घरके परिवारके लोगोंको जुड़ाते हैं, धन संचित करते हैं और अन्तमें होता क्या है? धन भी विघटता है, परिजन भी विघटते हैं। किया था सुखकी आशासे सब कुछ, किन्तु सुख मिल न सका। संसारमें ऐसे ही गहन नाच हो रहे हैं। यहां सुखकी आशा करना बिल्कुल भ्रमभरा प्रयत्न है। तो जितने भी क्लेश होते हैं वे पापसे और जब-जब भी आनन्द मिलता है तब धर्मसे। राग भाव करते हुए, धनसम्पन्न होते हुए कोई लाभ हो रहा हो, प्रतिष्ठा हो रही हो, उन सबको सुनते हुए इस जीवको भीतरसे चैन नहीं मिलती। अनुभव करके देख लो। जब आर्थिक स्थिति कम होती है उस समय कितना समय मिलता है धर्मकार्यके लिए और कितना उपयोग लगता है और जब आर्थिक स्थिति बढ़ने लगती है तो उस धनको भी तो सभालने में श्रम होता है, उपयोग देना पड़ता है और फिर तृष्णा बढ़ती जाय तो उसके स्वप्न भी आते रहते हैं, फिर धर्मकी ओर बुद्धि नहीं जगती है। किस चीजमें सुख माना जाय? संसारके समागमोंमें सुख नहीं है, सुख तो धर्ममें है।

—धर्मपालनमें प्रारम्भिक पुरुषार्थ— धर्मके पालनेके लिए पहिले यहां से शुरुवात करें, वस्तुका स्वरूप समझें, यथार्थतत्त्वका ज्ञान करें। मैं वास्तवमें क्या हूं और ये जगत्के जो कुछ भी समागम मिले हैं इन समागमों में यह क्या है—यह बात समझे बिना धर्मका प्रारम्भ भी नहीं हो सकता। हम जहां है, जहा फँसे हैं, जिस बन्धनमें हैं उसकी समस्या तो सुलझ न पाये, उसका तो यथार्थ परिचय न पा सकें और बाबा वाक्यकी बात रटते रहें तो शान्ति तो नहीं मिल सकती। हम जहां हैं, जो हमारे सामने हैं, जो मैं खुद हूं, इसका निपटारा भी न हो तो शान्ति कैसे पावोगे? एक बार इन्सपैक्टर ने स्कूलको खबर भेजी कि हम अमुक दिन अमुक समय पर बच्चोंकी भूगोल विषयकी परीक्षा लेने आयेंगे। मास्टर जीने बच्चोंको खूब समझाया और भी विशेष करके बताया। देखो यहां अमेरिका है, यहां रूस है, यहां अमुक नदी है, खूब समझा दिया, खूब रटा दिया, समझा दिया। इन्सपैक्टर आया तो लड़कोंसे पूछा— बोलो बच्चो, तुम्हारे गावके पाससे जो नाला निकला है ना, वह कहासे निकला है? अब बच्चोंने तो अमेरिकाकी, रूसकी और सब जगहों की पहाड़ नदिया पढ़ी थीं, पर गांव का नाला तो बच्चोंने न पढ़ा था। सब चुप रह गए। अरे भैया! बड़े-बड़े देशान्तरोंके नदी नालोंका पता किया जा रहा है, पर अपने गांवके नालेका पता नहीं है। ऐसे ही हम जिन शरीरोंमें बधे हैं, जिस समागममें रह रहे हैं, उसे न जानें और बड़े पुराने इतिहासक

बातों को, देवी देवता आदिक अनेक पौराणिक बातोंको खूब बखानते रहें, समझाते रहें और उनके ही आधार पर हम धर्म करते रहें, ऐसे तो अपना पार न पड़ेगा।

स्वपर प्रतिबोध— धर्मप्रसगमें इतना श्रम करने पर भी लोग सुखी नजर नहीं आते, इसका कारण यह है कि सुखका जो यथार्थ उपाय है वह तो न किया। सुखका उपाय इस तरहसे चलेगा। पहिले अपनेको और पर को यथार्थरूपसे समझलो कि मैं क्या हूं और ये सब समागम क्या है? जिसे लोग मनुष्य कहते हैं, जो यह दो पैरवाला कुछ व्यवहारमें आ रहा है, यह मनुष्य एक वस्तु नहीं है, यह तीनका पिंड है। जिससे प्रीति कर रहा है, जिससे मोह बसाया है यह सब एक वस्तु नहीं है, यह तीनका पिंड है, वे तीन हैं कौन? एक तो यह आत्मा ही स्वय है, दूसरी चीज अनन्त कर्म परमाणुवोंका पिण्डरूप कार्माण शरीर है जिन्हें कोई प्रकृति कहते हैं कोई कर्म कहते हैं, कोई विधि कहते हैं। तीसरी चीज ये शरीरकी वर्गणाएँ, शरीरके स्कध, इन तीनका यह पिंड है। जो हम आपको नजर आते हैं ये सभी जीव स्थावर हों, तिर्यंच हों, मनुष्य हों, पशु पक्षी हों अथवा नारकी हों, इन तीनके पिंड हैं। इसीलिए ये वास्तविक पदार्थ नहीं हैं। इनका विघटना हुआ कि माया विघट गयी। इस पिण्डमें जो आत्मतत्त्व है वह मैं हू और वह मैं एक ज्ञान दर्शन आनन्दमय हूं और ये सर्व कर्म सब अचेतन हैं। इन सबसे न्यारा यह मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हू। इस मेरेका किसी भी अन्य जीवसे रच सम्बन्ध नहीं है।

विवेक प्रकाश— संसारके ये सभी प्रभु अपने-अपने कर्मोदयके अनुसार किसी कुटियामें इकट्ठे होते हैं, सुख दु ख पाते हैं, जन्म-मरण करते हैं। यहा कोई किसी दूसरेका सुख दु ख जीवन मरण नहीं करता है, ऐसा ही अत्यन्त न्यारा मैं हू, ऐसा बोध हो तो धर्मका पालन होगा, यदि ऐसा भेदविज्ञान नहीं है, विवेक नहीं है तो धर्मके नाम पर कितने ही उत्सव समारोह विधान कुछ भी कर लेने पर भेदविज्ञान न होने से धर्म नहीं होता। वहा एक प्रकारसे शुभ कर्मका लक्ष्य करके अपना दिल-बहलावा किया है। धर्म नियमसे शान्ति और आनन्दको उत्पन्न करता हुआ ही प्रकट होता है इसलिए यह भय मत करो कि सुख बिगड़ जायगा धर्म करने से। धर्मसे सुख बढ़ता है, विघटता नहीं है। सुख तो धर्मका फल है। यह धर्म अपने फलमें कष्ट न देगा।

मोह राग द्वेषकी अधर्मरूपता— ये जीव मोहमें तो मस्त हो रहे हैं, रागद्वेप मोहकी घटनावोंके लिए तो हम तन, मन, धन, वचन सब कुछ लगा

रहे हैं और एक सही मायनेमें आत्महितके भावसे धर्मकी ओर नहीं लगते हैं। धर्मका उद्यम करो, मोहसे कुछ पूरा न पड़ेगा, सब बिछुड़ेगा, अन्तमें दु:खी होना पड़ेगा। जो पुरुष सयोगके समयमें हर्ष मानते हैं उनको वियोग के समयमें माथा धुनना पड़ेगा, बड़ा दु:खी होना पड़ेगा, इससे अभीसे ही चेत जावो। जिन चीजोंका संयोग हुआ है उन चीजों को विनश्वर मानो। यह सयोग किसी दिन अवश्य मिटेगा। ऐसा अपना निर्णय बनाये रहो तो वियोगके समयमें फिर क्लेश न होगा। इस कथनमें सार बात इतनी है कि मोह रागद्वेष करना तो अधर्म है और इन भावों पर विजय प्राप्त करके केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना, जान लेना, बस इतनी ही मात्र अपनी वृत्ति रखना, यह है धर्म।

धर्मपालनसे अमूल्य अवसरका लाभ उठानेका सन्देश— धर्मसे नियमसे सुख होता है और अधर्मके कारण नियमसे दुःख होता है— ऐसा निश्चय करके धर्मका आदर करना चाहिए। धर्मके लिए उत्साह बनावो, समय निकालो। तत्त्वज्ञानकी बात सीखनेको अपना भाव बनावो। प्रमादमें समय गुजर जायेगा तो पछतायेगा। यह बड़ा मूल्यवान् नरभव है, यों ही खो देनेसे फिर इस जीवको दु:खी होना पड़ेगा। इस उत्कृष्ट अवसरका लाभ यही है कि अपना परिणाम धर्ममें लगावें। ज्ञान, शान्ति, आनन्द निर्मोहता निष्पक्षता, उदारता, सरल रहना, नम्र रहना, तृष्णाका न होना, मैं अकिञ्चन हू, मेरा जगत्में कहीं कुछ नहीं है—ऐसा समझकर बाह्यवस्तुवोंसे विरक्त होना और अपने स्वरूपकी ओर झुकना यही धर्म है। जो धर्म करेगा वह नियम से सुखी होगा।

धर्मादवाप्तविभव धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥२१॥

धर्मप्रतिपालनसहित ही भोग भोगनेका सन्देश— हे पुण्यवान् पुरुष! धर्मसे यह समस्त वैभव प्राप्त किया है, अब इस वैभवके भोगका अनुभव तो कर, किन्तु धर्मका प्रतिपालन करते हुए भोगोंको भोग। देख किसान भी जिस बीजसे धान्य प्राप्त करता है उस धान्यका भोग भोगता तो है, किन्तु बीजको पहिलेसे सुरक्षित रख लेता है, समस्त धान्योंको नहीं भोगता। वह बीजकी रक्षा करता है जिससे कि आगे भी धान्य पैदा किया जा सके। आत्महितार्थीको चाहिये कि वह धर्मकी रक्षा करके ही भोगना पड़े तो सुख भोगे। जैसे बीजकी रक्षा करके किसान धान्यका भोग करता है।

आनन्दका साधन— जीवको जो कुछ भी आनन्द है वह ज्ञान और वैराग्यका आनन्द है। किसी परवस्तुसे तो आनन्द आता ही नहीं है, किन्तु

परवस्तुओंके प्रेमसे भी आनन्द नहीं मिलता। जितना चित्तमें वैराग्य दृढ़ बने, जितना परवस्तुवोंसे उपेक्षा बनती जाय, उतना ही यह जीव आनन्दका पात्र होता है। कोई भी पुरुष किसी भी परिस्थितिमें हो उस ही परिस्थितिमें वह विवेक बनाये रहे कि मुझे जितना स्वास्थ्य साधनाके लिए आवश्यक है और आत्मकल्याणके लिए आवश्यक है उतना तो मन, वचन, कायकी चेष्टाएँ करें, व्यर्थ अपने मनका पसारा न बनाएँ। इन वचन व्यवहारोंको भी अटपट जहा चाहे न बोला करें, किन्तु जिसमें कोई आजीविका का काम विदित हो अथवा आत्मकल्याणका काम विदित हो वहा ही अपना वार्तालाप करे और शरीरसे भी चेष्टा अपने किसी शुभ प्रयोजनके लिए ही करें। वदन, पूजन, सत्सग, गुरु सेवा आदिक शुभ कार्मोमें कायचेष्टा करें, शरीर का श्रम किन्हीं अशुभ बातोंके लिए न करें, यह सब जीवोंका कर्तव्य है। चाहे कोई गृहस्थ परिस्थितिमे हो अथवा साधुपरिस्थितिमें हो, दृष्टि, लक्ष्य, झुकाव मे सब समस्त ज्ञानीजनोंके एकरूप होते हैं। परिस्थितिवश कुछ विभिन्न भी प्रयत्न कर सकते हैं, यह है उनकी जुदी-जुदी बात।

वैराग्यरूप धर्मसाधनसे हितलाभ— भैया! जितना वैराग्यका चित्त मे ध्यान होगा अर्थात् परवस्तुवोंकी आधीनता जितनी कम होगी उतना ही इस मनुष्यका हित है। वैराग्यसे प्रयोजन सीधा इतना ही है कि सब कुछ छोड़कर निर्ग्रन्थ दिगम्बर बनें, यह तो उत्कृष्ट बात है, पर सबके लिए यह बात कही नहीं जा रही है, किन्तु अपनी-अपनी परिस्थितिमें सबको यह निर्णय रखना चाहिए कि आजीविका और आत्मोद्धार इन दोनोंसे जहा सम्बन्ध हो, वहा ही मन, वचन, कायका व्यापार हो, यह उन्नतिका मार्ग है। यों तो सभी ससारी जीव अपनी-अपनी कषायवासनाके अनुसार नाना प्रयत्नोंमें जुटे रहा करते हैं, परतु लाभ क्या मिला इन जीवोंको? सो मिला ही नहीं कुछ। इसका प्रमाण यह है कि अब भी तो ससारमें रुलते फिरते धरे हुए हैं। यह पुण्य सामग्री, श्रावककुल, धर्मका समागम और-और भी यथावसर सत्सगका मिलना—ये सभी बातें उत्कृष्ट प्राप्त हुई हैं, इन्हें पाकर व्यर्थ नही गवाना है। गृहस्थ हैं तो यह काम करें कि वभव आदिका भोग भोगकर धर्मकी भी दृष्टि बनाये रहें। जिस धर्मके प्रसादसे यह पुण्य वैभव मिला है उस धर्मको न काट दें, उसकी रक्षा बनाये रहें।

अध्रुवमें अनास्था— वज्रदन्त चक्रवर्तीके वैराग्यभावनामें सर्वप्रथम ही आप लोग बोलते हैं—बीज राख फल भोग वे ज्यों किसान जग माहिं। त्यों चक्री नृप सुख करें, धर्म बिसारें नाहिं॥ ये चक्रवर्ती भी चक्रवर्तित्वका बड़ सुख भोगते हैं। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिनकी सेवामें रहते हैं

ऐसे सबसे उत्कृष्ट राजा चक्रवर्ती भी भोगों को इस प्रकार भोगते हैं कि धर्म को बिसारते नहीं हैं। जैसे किसान अन्नका भोग करता है, पर बीजको पहिले रख लेता है। भोगप्रसगोंमे मस्त मत होओ—यह उपदेशका साराश है। इस जगत्में कुछ भी चीज अपना सर्वस्व समर्पण करने योग्य नहीं है। समस्त समागम ऐसे अध्रुव हैं जैसे चलते हुए मुसाफिरको रास्तेमें जो पेड़ मिलते हैं उन पेड़ाका कितने क्षण संयोग है? छोडे जा रहे हैं, जिन भी पेड़ोंका मिलाप होता है उनको छोड़ते जाते हैं और आगे बढते जाते हैं। इस ही प्रकार हम आगे बढते चले जा रहे हैं, अपनी यात्रा बनाए चले जा रहे हैं। इस ससारकी मुसाफिरीमें ये मकान वैभव परिजन लोग उन पेड़ोंकी भांति क्षणिक समयके लिए मिले हैं। इनमें मत्त और मग्न होना विवेक नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक सुखबीजरक्षणका समर्थन— चतुर किसान तो विचार करता है कि जो अन्न खेतसे उत्पन्न होता है यह बीजसे उत्पन्न होता है। कुछ भी इस उत्पन्न अनाजमें से बीज रख लेंगे तो आगे भी अन्न की प्राप्ति होगी। यों विचार कर वह चतुर किसान बीजको रखकर अन्नको भोगता है। थोड़ा कभी कम खाकर भी गुजारा करना पडे तो भी उसे इष्ट है मगर बीज रखना कभी नहीं भूलता। ऐसे ही ये जितने भी सुख हैं ये सुख सब धर्मके प्रसादसे मिले हैं। धर्म न होता तो इन्द्रियविषयोंका अच्छा साधन न मिलता, सुखकी प्राप्ति न होती। हे कल्याणार्थी भव्य पुरुष! तू सयाना बन, ये समागम तो विनश्वर हैं, तू इनमे प्रीति मोह करके मूढ मत बन। जो कुछ भी मिला है वैभव तुझे, धर्मके प्रसादसे पुण्यके अनुकूल मिला है। उस धर्मको नहीं निहारना है। सुखमूल धर्मकी रक्षा कर वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल और उदयवश जो कुछ भोगना है सो भोग लो, किन्तु धर्मको न बिसारो। अब भी धर्म रक्खेंगे, साधेंगे तो आगामी कालमे भी सुखकी प्राप्ति होगी। इस कारण धर्मकी रक्षा करते हुए सुख भोगना चाहिए।

आनन्द, सुख व दुःखके मूल त्रिक— जैसे आनन्दके सम्बन्धमें तीन बातें होती हैं—आनन्द, सुख और दुःख। इन तीनोंमें फर्क है। आनन्द नाम तो शुद्ध आत्मीय आनन्दका है और सुख नाम है सासारिक सुखका, इन्द्रिय-जन्य सुखका। ख मायने इन्द्रिय, सु मायने सुहावना लगे और दुःख मायने पीड़ा वेदना। जहा इन्द्रियको सब कुछ असुहावना लगे। ये तीन भाव हैं आनन्द सुख और दुःख। ऐसे ही इस प्रसगमें तीन भाव समझना धर्म, पुण्य और पाप। धर्म नाम तो है रागद्वेष न करके मात्र जाननहार रहना। इस धर्म से आनन्दकी प्राप्ति होती है। धर्म किसी जातिका, किसी कुलका बन्धन

रूप नहीं है। जो भी भव्य, जो भी पुरुष सविवेक रागद्वेषको तजेगा, जग-जालका ज्ञाता द्रष्टा रहेगा, इसमें न फंसेगा, इसकी आशा न करेगा, अपने आपके स्वभावके उन्मुख ही रहेगा वह धर्म पाल रहा है। वह इस धर्मके फल में आनन्द प्राप्त करेगा।

धर्मके सद्भावमें अविशिष्ट अनुरागका फलवैभव— इस धर्मके करने की दृष्टि और यत्न रखते हुए भी जो कुछ राग शेष रहा है, शुभ राग बना है उस रागके फलमें उत्कृष्ट पुण्यबंध होता है, क्योंकि धर्मकी दृष्टि साथ है। अब धर्मकी दृष्टि और धर्मका आश्रय जितना साथ है और जितना राग है उसके अनुसार पुण्यबंध होता है। उस पुण्यके उदयमें इष्ट चीजकी प्राप्ति होती है, उस समय यह जीव उन इष्ट पदार्थोंका भोग अन्यायपूर्वक, आसक्तिपूर्वक अपने आपकी सुध बुध खोकर भोगता है तो उसकी दुर्गति अवश्यम्भावी है। धर्मको न विसारकर मेरा कर्तव्य तो शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेका है–ऐसा ध्यान रखते हुए उदयाधीन जो कुछ सुखका भोगना बनता है वह दुर्गति का कारण नहीं होता। क्योंकि इसमें दृष्टि धर्मकी रक्षाकी भी साथमें पड़ी हुई है।

मोही जगत् पापफलसे भीत और पापका अनुरागी— पाप भाव है विषयकषायोंमें निरर्गल लग जाना। कोई अर्गला न रखकर, कोई ज्ञान विनय दृष्टि भावना न रखकर जो विषयकषायोंमें मनचाही प्रवृत्तिकी जाती है वह सब पाप भाव है। पापके उदयमें क्लेशके साधन निकट होते हैं और उसमें यह जीव परेशान हो जाता है। लोग पापका फल तो नहीं चाहते हैं, किन्तु पाप करते रहते हैं। पापका फल है दरिद्रता, दुःख होना, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग– ये सब पापके फल हैं, इन्हें तो नहीं चाहता यह जीव, किन्तु पापको छोड़नेकी हिम्मत भी नहीं करता। पुण्यके फलको तो चाहता है यह जीव। पुण्यका फल है इष्टसंयोग, अनिष्टवियोग, विषयोंके अनेकानेक साधन मिलना, इन सबको तो चाहता है यह, किन्तु पुण्यको नहीं करना चाहता।

पापफलकी व्याख्या— इस प्रसंगमें बड़े कामकी एक बात सुनिये। पापका उदय इसे नहीं कहते हैं कि स्त्रीका वियोग हो जाय, पुत्रका वियोग हो जाय, धन कम हो जाय, दरिद्रता आ जाय, पापकी भावना चित्तमें आए तो इसे पाप समझिये और साथ ही यह भी जानों कि यद्यपि यह उपचारसे पापका फल है, लेकिन पापका फल तब कहलायेगा जब कि उस चीजकी इच्छा बनी हो और फिर भी वह चीज न मिले। धन कम हो गया यह कोई पाप नहीं है, किन्तु धनकी चाह तो विकट बनी है और फिर कम

हो गया तो पापका उदय समझिये। धनके कम होनेको यदि पाप माना जाय, पापका उदय समझा जाय तो जिन्होंने धनको बिल्कुल त्याग दिया है फिर उन्हें कितना पापी कहोगे ? पैसा ही नहीं है पास। धनकी कमी होनेका नाम पाप नहीं है, किन्तु धनकी तो चाह है और मिल नहीं रहा है, उसे पाप कहते हैं। परिजनोंका परिवारका वियोग हो जाना पाप नहीं है। यह तो संसारकी रीति है। जन्मते हैं, मरते हैं, आते हैं, जाते हैं— यह पाप कुछ नहीं है, किन्तु किसी परिजनसे प्रीति है, उसे चाहते हैं, उसका मरण इष्ट नहीं है और हो जाय मरण तो यह पापका उदय है।

पापफलके त्वरित विनाशका सुगम उपाय— देखो भैया ! पापके फल में लोग हैरान हो गए हैं, उसके फलको आप क्षणमात्रमें दूर कर सकते हैं और पापफलको दूर करनेकी बड़ी सुगम पद्धति है। पापका उदय इस ही को तो कहते हैं ना, कि आप चाह रहे हैं धन और धन हो रहा है कम। इस पापके फलको मिटाना है ना। तो पापफलको मिटानेकी सुगम औषधि है धनको चाहना नहीं। ज्ञान बढ़ालो, पापका फल मिट जायगा। न चाहें किसी चीजको और वह चीज हो जाय कम, उसे पापका उदय नहीं कहते हैं। किसी चीजकी इच्छा रहे और चीज न मिले इसे कहते हैं पापका फल। पापका फल मिटानेकी हम सबके अन्दर कला है, पर उस कलाका उपयोग नहीं करना चाहते।

निज निधिके दर्शनके आनन्दका एक दृष्टान्त— जैसे किसी गरीबके घरमें लाखोंकी सम्पदा गड़ी है, पर उसे पता नहीं है तो उसे रोज भूखे रहना पड़ता है और बडे श्रमसे अपना पेट पालता है। उसे मालूम ही नहीं है कि यहा निधि गड़ी है। जब कभी उसे यह सावित हो जाय कि मेरे मकानमें निधि गड़ी है तो इस परिचयसे ही वह सुखी हो जायगा। अभी मिली कुछ नहीं, वह गड़ी ही है, प्रवृत्तिमें गरीबी है, एक बार ही भोजन बनता है, मुश्किलसे खाना मिल पाता है, इतने पर भी चूँकि उसे यह खबर हुई है इस लिए यह विश्वास जम गया है कि इस पृथ्वीके नीचे बहुत निधि गड़ी है और जब उसको कुदालियोंसे खोदकर देखता है और निधिकी निशानी दिखाने लगती है तब उसे आनन्द आता है, और जब खोदकर निकाल ही लिया, घरकी आलमारीमें कहीं रख भी दिया तो वह आनन्दका मनमाना प्रयोग करता है।

निज निधिदर्शनके आनन्दका उपयोग— यों ही इस जीवके इस स्वक्षेत्र महलमें कर्मरूपी पृथ्वीके भीतर यह अनन्त आनन्दकी निधि दबी हुई है, इस जीवको पता नहीं है। इस कारण यह ससारी जीव परका आशा रख

कर जानकारी बनाकर क्लेश ही भोग रहा है। जब इसे किसी उपायसे अपनी अनन्त निधिका पता पड़ जायगा, परिचय हो जायगा कि यहा मेरे में सर्वाधिक समृद्धि बसी हुई है, मुझमें है तभी तो प्रकट होगी और जो है ही नहीं, वह कहासे प्रकट होगी? यों अन्तस्तत्त्वका परिचय हो जाय तो चाहे अभी उसका उपयोग अनुभव नहीं कर पाया, लेकिन इतना परिचय हो जाने मात्रसे उसे एक शान्ति प्राप्त हुई कि मैं गरीब नहीं हू। मकान नहीं है न सही, मेरा यहा कुछ है ही नहीं। मेरा मकान मेरा स्वरूप है। परिजन वैभव मेरे कुछ नहीं हैं, न सही। मेरा तो मात्र मैं ही अकेला हू। मुझे किसका शरण है ? मेरा तो मैं ही सर्वस्व हू। इस आत्मनिधिका जब परिचय हो जाता है तब इसे आनन्द जगने लगता है। जब कुटुम्ब, परिजन, वैभव इनकी ओर दृष्टि जाती है, तब महती विपदा है और विडम्बना है। इसमें जीवका रच भी हित नहीं है। परिचय हो जाय आत्मनिधिका और इस आनन्दके विकास करनेका यत्न किया जाय अर्थात् अन्त.चारित्र पाला जाय, भक्ति प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान, आलोचना आदिक ये समस्त इस आनन्दके निरखने के साधन हैं। इन कुदालियोंसे इस कर्मरूपी पृथ्वीको खोद डालें और अपने आनन्दके के पानेका यत्न करें तब उसका आभार नजर आने लगता है और अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है। जब उसका साक्षात् अनुभव हो जाय तो उस अनुभव के कालमें विशुद्ध आनन्दका उपभोग होने लगता है।

ज्ञान और वैराग्यकी सुवासनाकी समृद्धि— देखो समस्त आनन्द सर्वसमृद्धिया एक आत्मानुभवके धर्मके प्रसादसे मिली हुई हैं। इस धर्मको किसी भी स्थितिमें भूलें नहीं, धर्मका प्रतिपालन करते हुए भोगोंका अनुभव करें। यही विवेकपूर्वक भोग कहलाता है। इसमें ज्ञान और वैराग्य दोनों अन्तर्निहित है। इस वैराग्य मां का बहुत बड़ा प्रसाद है। यही हितकारिणी मा है, यही वैराग्य मा इस सुपूतको नियमसे हित और आनन्द प्रदान करती है। अनुभव करके देखलो जितना-जितना राग हटाकर वैराग्यभावसे सुवासित होते जावोगे उतनी ही विशुद्ध अन्त प्रसन्नता और उत्थान इस जीवका होता चला जायगा। ज्ञान और वैराग्यका आदर करो और धर्मका प्रतिपालन करते हुए, अपने ज्ञान और वैराग्यकी सभाल रखते हुए जो वर्तमानमें सुखभोग भोगना भी पड़ रहा है उसे भोगो।

संकल्प्य कल्पवृक्षस्य चिन्त्य चिन्तामणेरपि।
असकल्प्यमसचिन्त्य फल धर्मादवाप्यते ॥२२॥

बिन जाचे बिन चिन्तये धर्म सकल सुखदैन— कल्पवृक्षका तो फल [illegible] याचने पर फल मिलता है और चिन्ता-

मणि का फल चिन्तन करनेसे मिलता है, किन्तु धर्मसे तो विना मागे और बिना सोचे ही फल मिलता है। लोक कल्पवृक्षको उत्तमफल देने वाला बताते हैं। सो जब संकल्प करो, याचना करो तब फल मिलता है और चिन्तामणि रत्नसे चिन्तन करो, मनमे सोचो कि अमुक वस्तु मिले तो मिलती है, किन्तु धर्म तो वचनके भी गोचर नहीं है और मनके भी गोचर नहीं हैं, यह तो बिना ही बिचारे, बिना मांगे हुए अचिन्त्यफलको प्रदान करता है। धर्मसे समस्त अर्थोंकी सिद्धि होती है कोई पुरुष इसही ध्येयसे कि सब कुछ मिल जाता है धर्म करनेसे तो चलो अपन धर्म करें, तो उसने न धर्म समझा है और न वह धर्म कर सकता है। अज्ञान दशा ही उसके सिर पर मडरा रही है। धर्म नाम है समस्त पदार्थोंसे भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र अपने आप को जानकर इसही के दर्शनमें तृप्त रहना, इसका नाम है धर्मका करना। अब सोचो जो मनुष्य ऐसे धर्मको करते हों उन्हें कैसे दु ख होगा ? उसको किसी भी पदार्थकी वाञ्छा ही न होगी, फिर दु ख कैसे हो ?

धर्मसे सर्वार्थसिद्धि— सिद्धि नाम वाञ्छा न रहनेका है। जिस किसी भी प्रकार इच्छा न रहे उसीका नाम सिद्धि है। मोहीजन इस सिद्धिके उपायमें भोगोंका सचय करते हैं, भोगोंको भोगते हैं। भोगोंको भोगनेमें तद्विषयक वाञ्छा कुछ समयके लिए दूर हो जाती है। यह जीव उस समय के आये हुए आनन्दको यों समझता है कि मुझे भोगोंसे आनन्द मिला है, किन्तु बात वहां यह है कि भोगविषयक वाञ्छा नहीं रहती है, वाञ्छा न रहनेका नाम ही सिद्धि है। जिस जीवको अपने यथार्थस्वरूपका भान होता है उसके तरंग ही नहीं उठती है किसी पदार्थकी ओर झुकनेकी, फिर उसे क्लेश कहासे होगा ? इसी कारण स्पष्ट यह बताया गया है कि धर्मसे समस्त वाञ्छाओंकी पूर्ति होती है। वाञ्छा न रहे इसका ही नाम पूर्ति है।

परमार्थ चिन्तामणि— कुछ लुब्ध पुरुष भोग साधनोंके सचयके लिए और भी यत्न किया करते हैं, कोई सिद्धि, मत्र जपना, किसी देवी देवताकी सिद्ध करना अनेक प्रकारके ऐसे उपाय भी यह जीव किया करता है और सुन रक्खा है कि कल्पवृक्षसे जो चाहे चीज मिल जाती है सो कल्पवृक्षकी तलाशमें रहते हैं। चिन्तामणिकी वे खोज करते हैं कि चिन्तामणि रत्न होनेपर जो विचारो उसकी सिद्धि हो जाती है। सो यह चिन्तामणिके स्वप्न देखता है। लेकिन यह विदित नहीं है कि यह चैतन्यस्वभावका दर्शन ही चिन्तामणि है, जिसके चिन्तनमें सर्वसंकट दूर हो ही जाते हैं। धर्मसे विना मागे, बिना चिन्ते सुख प्राप्त होता है। इस कारण एक इस आत्मधर्मको, ज्ञाता द्रष्टा रहने रूप उपायको बनाएँ। अन्य-अन्य कुछ भी काम करने पर जीवक

सुखसाता न मिल सकेगी।

आत्मनिरीक्षण— वर्तमानमें अपनी ही बात तक लो, कितना ही कुछ कर डालो, दूसरोंके लिए या अपनी कल्पनाके अनुसार अपने लिए, घर भी बना लिया और दुकान ठीक सही लाइन पर कर दिया, और प्रजाजनों में भी, पड़ोसियोंमें भी बड़ा आदर होने लगा। कल्पनानुसार ऐसा हो जाने पर भी चैन तो इसे है नहीं। कोई इच्छा खत्म हो तो अन्य कोई इच्छा उत्पन्न हो जाती है, इसको शान्ति नहीं मिलती है। कितने ही पुत्र हो जायें, कितने ही विवाह हो जायें, कितने ही लोगोंका जमाव बन जाय, गोष्ठी आदि सब कुछ बनालें, लेकिन शान्ति इस जीवको नहीं हो पाती है। आज देशमें भी जो बडे नेता और बडे अधिकारी माने जाते हैं वे भी आज बहुत विह्वल हैं। जब आजकी दुनिया इतना संकटग्रस्त है, जिन्हें हम बड़ा कहते हैं ऐसे देशके भी लोग आज बड़े सकटमें हैं और यह भी पता नहीं है कि आजका दिन भी भली प्रकारसे बीत सकेगा या नहीं, तब तुम कहा आशा लगाये हो, क्या मायाजालोंसे अपने आपके आनन्दकी आशा करते हो?

अनात्मतत्त्वकी उपेक्षापूर्वक धर्ममें आस्थासे लाभ— भैया! मान लो दुनियाके १०, २०, ५० लोगों ने कह डाला कि आप बडे धनिक हैं, उदार हैं, बडे परोपकारी हैं, बडे सरल हैं तो आखिर उसने अपनी कषायके अनुसार अपनी वचनचेष्टा ही तो की। परमें, बाहरमें किसी भी पदार्थके सग समागम में सुखकी आशा मत करो। यदि भ्रम बना है, सुखके लिए परकी आशा लगाये हैं तो यह बहुत बड़ी विपदा है, विडम्बना है, इसमें तो उत्तरोत्तर भविष्य बिगड़ना ही जायगा। सर्वसकल्प विकल्पोंको त्यागकर निज स्वरूपमें विश्रामसहित रह जाओ तो सन्मार्गका विशद परिचय होगा। धर्म नाम है उस परिणामका जो मोह रागद्वेषसे न्यारा है—ऐसे उस धर्मपरिणाम को चाहे समता कहलो वही धर्म है, चाहे ज्ञाता द्रष्टा रहना कहलो वही धर्म है। चाहे निर्विकल्प निज ज्ञायकस्वरूपका आश्रय करना कह लो वही धर्म है। चाहे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र कह लो वही धर्म है। इस निर्मल धर्म परिणाम को जो पुरुष धारण करता है वह नियमसे अविचल सुखको प्राप्त होता है। धर्मसे ही अलौकिक फल प्राप्त होता है—ऐसा जानकर इस धर्ममें आस्था बनावो और मोह रागद्वेषके साधन परिजन मित्रादिक जनोंमें और इसही वैभवमें आस्थाको त्याग दो। ये हितके कारण नहीं हो सकते हैं। यह धर्म किस उपायसे उत्पन्न होता है, उस उपायके सम्बन्धमें आचार्यदेव कहते हैं—

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः ।
तस्मात्पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३॥

जीवपरिणाममें पुण्यपापकी कारणता— जो प्रज्ञजन हैं, वस्तुस्वरूप का अध्ययन करके जिसका निर्मल निर्णय हुआ है-ऐसे पुरुष पुण्य और पाप का कारण परिणामों को ही कहा करते हैं। इस कारण हे मुमुक्षु भव्यजनो ! पापका तो विनाश करो और पुण्यका संचय करो। पापविनाश व पुण्यसंचय होगा निर्मल परिणाम रखने से। हिंसासे दूर रहना, किसी से झूठ न बोलना, चुगली न करना, किसी का धन न हरना, किसी बहू बेटी पर कुदृष्टि न डालना और तृष्णाका त्याग रखना, अन्तरमें यह स्पष्ट श्रद्धा बनी रहना कि मेरा लोकमें कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र यह चैतन्य स्वरूप ही है। जो पुरुष इस आत्मस्वरूप तक पहुंच जाते हैं उनके परिणामोंमें पापकी बात प्रकट नहीं हो पाती है। परिणामको पुण्य पापका कारण जानकर हे भव्य जीवों ! परिणामोंको निर्मल रखनेका यत्न करो।

दृष्टान्तपूर्वक दुष्परिणाममें पापबन्धकताका समर्थन— कोई पुरुष किसी दूसरेकी बरबादीका कोई कारण जुटा रहा है और उसका वही कारण बड़े लाभको करने वाला हो जाय तो इसने तो पापका ही बंध किया। चाहे इसकी चेष्टासे उसे लाभ हो गया हो, परपरिणामों में जब मलिनता आयी तो पापका बंध हो गया। श्री पालराजका कथानक तो सुना ही होगा। उसे धवल सेठने समुद्रमें चलते हुए जहाजसे ढकेल दिया। वह जहाजसे नीचे गिर गया। यह धवल सेठ बड़ा खुश होता है कि मैंने तो उसे मार दिया है अब। अब तो सब कुछ धन वैभव जो इसने सचित किया है वह हमको ही मिल जायगा, किन्तु वहां होता क्या है कि वह श्रीपाल किसी न किसी प्रकार तैरकर किनारे लग जाता है और जिस किनारे लगा उस देशके राजाका यह विचार था कि जो समुद्रको भुजाओंसे पार कर किनारे लगेगा उससे अपनी लड़की की शादी कर देंगे और आधा राज्य दे देंगे। खबर मिली तो श्रीपालको बड़े आदरसे राजा लिवा लाया। उसको अपनी लड़की विवाह दी और आधा राज्य उसे दे दिया। इस प्रसगमें वह धवल सेठ भी वहां पहुचा और देखा-ओह जिसे मैंने मारनेका उद्यम किया था वह तो यहां राजा बन गया है। उसे कुछ और उपाय न सूझा तो अपने साथियोंको भी समझा दिया कि हम व तुम सब यों यों कहना। भांडका रूप बनाया और राजाके सामने श्रीपालसे कोई कहे-अरे चाचा तुम बहुत दिनोंमें मिले, अरे बेटा, अरे भाई, ऐसा कहनेका प्रयोजन यह था कि राजा यह जान जाय कि यह भांडका लड़का है। कुछ वहां विद्रोह किया, लेकिन सब विद्रोह मिट गया

और सम्पदा आती गयी। जो जैसा परिणाम बनाता है उस परिणामके अनुसार वह पुण्य और पापका बंध कर लेता है।

जीवकी शक्यता— भैया! अपने पास और है ही क्या चीज? केवल परिणाम है। केवल परिणामके सिवाय और क्या करोगे? देह तक भी जब मेरा नहीं है तो अन्य वस्तु मेरी क्या होगी और अन्य बातोंमें हम क्या करतूत कर सकेंगे? हम केवल परिणामोंके धनी हैं, अपना परिणाम निर्मल बनायें, देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिमें लगायें तो वहां पापोंका तो विनाश होगा और पुण्यका समागम मिलेगा।

पर्यायव्यामोहमें धर्मफलदर्शन— कोई जब आखों देख लेते हैं या दो चार उदाहरण कभी मिल जाते हैं कि देखो अमुकने खूब धर्मसाधना की और फिर भी यह निर्धन रहा है अथवा नि संतान रहा है या अन्य प्रकारसे कुछ हीन दशामें आया है। इस धर्मसे कुछ लाभ नहीं है। धर्मकी वासनामें, उसकी फिकरमें समय गँवा दिया जाता है, इस धर्मसे क्या लाभ है—ऐसी आशका होती है अज्ञानीजनोंको। कोई शरीरमें सामर्थ्य न हुई या अपना काम चलाने लायक कोई सामग्री न हुई तो उसे भ्रम हो जाता है, इसने बहुत तो धर्मसाधना करी किन्तु यह स्थिति आज आ गई है। धर्म बेकार चीज है। धर्मसे तो कुछ लाभ नहीं होता, ऐसा भ्रम करते हैं और धर्मका कहीं कोई उपदेश कर रहा हो तो उसे भी दोष लगाकर उपदेशों को निरर्थक करने का यत्न करते हैं, सब ढोंग धतूरा बताते हैं। यह सब पर्यायव्यामोहका फल है।

भूलपर भूल— होते भी हैं कोई मनुष्य ऐसे कि बहुत अधिक धर्म किया, जिसे कल्पनामें व्यवहार धर्म माना है और कोई घटना विरुद्ध घटी तो धर्मसे श्रद्धा भी हटा लेते हैं। जैसे आजकल चादनपुरके महावीर जी प्राय. लोगोंके उपयोगमें इस तरहसे बसे हैं कि इनसे जो मागो सो मिल जायगा, पुत्र मिल जायगा। अरे ये पुत्र तो लोगोंके होते ही रहते हैं। जो कभी उनसे पुत्र नहीं मागते हैं क्या उनके पुत्र नहीं होते हैं? होते हैं। इसकी इच्छा थी, जल्दी पुत्र देखना चाहता था। महावीरजी का जाप जपा, समय आया, हो गया तो कुछ खुशी मानता है कि महावीर स्वामीने दिया है, लेकिन कुछ कुछ दिनो बाद वह एकदम बीमार होने लगा, सूखाका रोग होने लगा, अब यह महावीरका जाप जपता है, महावीर तुम ही बचा लोगे। और कदाचित् मर जाय तो महावीर जी को जो कुछ कहना चाहे कह डालता है और धर्म से विमुख हो जाता है।

सर्वोत्कृष्ट वैभव परिणामोंकी संभाल— अरे भाई सांसारिक ठाठ, सांसारिक विडम्बनाएँ—ये सब पुण्य पापके आधीन हैं। पुण्य और पापका कारण परिणाम है। अपने ही परिणामों से पुण्य होता है, अपने ही परिणामो से पाप होता है, परके द्वारा किए जाने से न पुण्य होता है और न पाप होता है। इस कारण अशुभपरिणामोंको छोड़ो और शुभपरिणामोंको करो, ऐसा करनेसे ही तुम्हारे पापोंका क्षय होगा और पुण्यका सचय होगा। भैया! सबसे बड़ा धन है अपने परिणाम संभाले रहना। परिणामोंकी संभालपर इस जीवनका भी सुख अपेक्षित है, निर्भर है और परलोकका भी सुख इस पर निर्भर है। कुछ भी स्थितियां आयें, अपने परिणामोंको न डिगाएँ तो अवश्य ही उत्तम सिद्धि होगी।

सकटमें कर्तव्य पर एक दृष्टान्त— जैसे कोई राजा अपनी सेनापर करोड़ों रुपयोंका खर्च कर रहा है इस आशासे कि मेरे राज्य पर दूसरा कोई शत्रु आक्रमण न करदे और कदाचित् दूसरे शत्रुने राज्य पर आक्रमण कर दिया तो क्या इस राजाको यह सोचना चाहिए कि मैंने सेना पर इतना खर्च किया था, इसलिए कि कोई शत्रु न सता सके, लेकिन शत्रुने हमला बोल ही दिया, तो अब इस समस्त सेनाको हटावो, इससे अब क्या प्रयोजन है? ऐसा कोई राजा सोचता है क्या? नहीं। बल्कि उस समय सैनिकों को, सेनापतिको और उत्साह दिलाता है, खूब खर्च भी करता है, उदारवृत्तिसे सबके मनोनुकूल व्यय करता है। इन उपायोंसे वे सैनिक उत्साहित होकर शत्रुका मुकाबला करते हैं और शत्रुपर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

संकटमे कर्तव्य— ऐसे ही हम आप लोग धर्म करते हैं। जिस भी प्रवृत्तिमें धर्म माना है। धर्म करते हुए उदयाधीन कुछ घटनाएँ भी घट जाएँ, दरिद्रता आ जाय, अपना ठौर भी मिट जाय, अन्य भी अनेक बाधाएँ आ जाएँ–ऐसी स्थितिमें क्या हम लोगोंको यह सोचना चाहिए कि हे धर्म हमने तुम्हारा तो इसलिए पालन किया था कि मुझपर कोई सकट न आए। अब तो यह बड़ा संकट आ गया है, इससे अब तेरी छुट्टी कर रहा हू। ऐ धर्म! तुम जावो जहा जाते हो, अब मैं तेरा मुख भी न देखूँगा। इस तरह कोई धर्मसे उपेक्षा करदे तो क्या वह विवेकी कहला सकता है, क्या वह अपना कार्य सफल कर सकता है? नहीं। उसका तो उस समय यह कर्तव्य है कि समस्त शक्ति लगाकर इस धर्मका ही पालन करे, यह धर्म यह सम्यग्ज्ञान उपेक्षा अस्त्रके द्वारा उन रागादिक शत्रुवोंको जीत लेगा। अपने परिणामोंकी

निर्मलता बनावो, इसमें ही हम आपका कल्याण है, इससे समस्त अकल्याण दूर होंगे और हम अपना जन्म सफल कर लेंगे।

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरून्मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः॥२४॥

मूढताकी चेष्टा— जो पुरुष मोहके आधीन होकर, धर्मका घात करके विषयसुखों को भोगते हैं वे पुरुष जड़से वृक्षोंको छेद करके फलोंको ग्रहण करनेकी तरह मूढ़ताका काम करते हैं। जैसे किसी पुरुषको फलोंकी तृष्णा हुई कि इन समस्त फलोंको एक साथ तोड़ लूँ, सो इस तृष्णासे उसने पेड़ को जड़से काटकर गिरा दिया। अरे वृक्षको जड़से काट कर उन फलोंको भोगने को इससे भले ही वर्तमानमें कुछ फल मिल जाये, किन्तु भावी कालमें उन फलोंके मिलनेका अवसर तो नहीं रहा। यों ही पूर्वकृत पुण्यके उदयसे कुछ मिले हैं विषय साधन पुण्य सामग्री तो इस वैभवको पाकर, जो धर्मका घात करके, धर्मको मूलसे काट करके विषयसुखोंका अनुभवन करता है वह पुरुष फिर भावी कालमें किस दुर्गतिमें जायगा, यह बहुत कठिन बात होगी।

व्यामुग्धतामें शान्तिका लोप— कोई क्रूर आशय वाला अथवा किसी भी आशयसे वृक्षके सारे फलोंको एक साथ ले जाना चाहता है तो फलको चाह रहा है यह बात तो ठीक है, पर रौद्रभाव है, इस कारण वृक्षको जड़से काटकर फलोंको बटोरना चाहता है। ऐसे ही यह व्यामोही पुरुष सुखको तो चाहता है यह बात तो भली है, दुःखको कोई नहीं चाहता, पर पापबुद्धि होने से धर्मका घात करके सुखको भोगता है कोई तो उसे भावी कालमें फिर सुखका अवसर तो नहीं मिला। जरा कुछ अपने आपकी ओर मुड़कर कुछ खुदसे वार्तालाप तो करो– क्या करना चाहते हो इस जीवनसे जीकर? मान लो कोई मकान दुकान बना डाले, खेतीका बड़ा सुन्दर सिस्टम बना लिया अथवा अन्य प्रकारसे कुछ अपने यश नेतागिरी का काम कर लिया, कुछ भी किया तो यह बतावो कि जब ये नाना बड़गम किये जा रहे हैं तब भी शान्ति रही क्या? भैया! न तब शान्ति रही और न बड़गमोंको करनेके बाद भी शान्तिका अवसर है।

विषयसमागमका विपाक विपदा— मान लिया, बाल बच्चे हो गए तो या तो बालक कुपूत निकलेगा या सुपूत निकलेगा। यदि कुपूत निकल आया तो भी इसे रोना ही पड़ेगा। यह कमाई हुई सम्पदा कहा फैकी जाय? हाय यह दूसरोंको देनी ही पड़ेगा अथवा यह कुपूत बरबाद ही कर देगा "क्रूर

पुत्र सपूत हो जाय तो उसे कुपूतसे भी अधिक दुःख मिलेगा। कुपूत होने पर तो उससे रागद्वेष मोह नहीं रहता, उसके लिए भारी श्रम करने मरनेकी जरूरत नहीं पड़ती, पर कोई सपूत है, आज्ञाकारी है, बड़ा विनयशील है तो उसे निरखकर इस पिताके चित्तमें ऐसा आता है कि मैं चाहे कैसा ही कष्ट सहूं, मरूँ, कुछ करूँ, पर बच्चेको कभी किसी प्रकारकी असुविधा न हो। हमारी संतान खूब अच्छी तरहसे रहे, खायें पियें मौज करें, ऐसा सोच कर रात दिवस बड़ी बेचैनी करके इसे श्रम करना पड़ता है और फिर एक ही जगह रहते रहते अनेक बार ऐसी बात उपस्थित होती है कि दूसरोंकी ओरसे प्रतिकूल पड़ ही जाती है तब इसे खेद होता है। मेरा सर्वस्व तो इन बच्चोंके लिए ही है—ऐसा सोच-सोचकर रात-दिन दुःखी होते हैं।

दुःखमें बेहोश न होनेका विवेक— भैया! इस संसारमें रहकर कहां सुखकी आशा करते हो? जो दुःख आ रहे हैं उन दुःखोंसे भी क्या घबड़ाते हो? यह तो कुछ भी दुःख नहीं है। तुम यहां रहोगे, बसोगे तो इससे भी अनन्त गुणे दुःख और भी मिलते हैं, मिले थे व मिलेंगे। इतने दुःखसे न घबड़ावो। जैसे बड़ी हानिकी सम्भावना होनेपर छोटी धन हानि हो जाय तो उसमें खेद नहीं माना जाता। कोई हजार रुपयेका नुक्सान होना था, मगर १० रुपये का ही नुक्सान हुआ तो इसमें कोई खेद नहीं मानता है। यों ही जानों कि पशुपक्षी पर्यायके नरकगतिके दीन दरिद्र भिखारी कुमानवोंके दुःख के सामने आपका यह दुःख कौनसा बड़ा है? उसमें क्या घबड़ाना? घबड़ावो दुष्ट परिणामोंसे। मेरेमें धर्मके विरुद्ध आत्मघातक परिणाम क्यों होता है, यह तो जन्मजन्मान्तरमें क्लेशका कारण है। दुष्टपरिणामसे घबड़ावो, दुःख से मत घबड़ावो।

दुःखकी अपेक्षा सुखकी भयावहता— भैया! दुःख तो तुम्हारी एक सम्पदा है। जहां दुःख नहीं होता वहां से मोक्ष नहीं होता, पवित्रता नहीं प्रकट होती है। देवगतिमें दुःख नहीं है आर्थिक, शारीरिक, क्षुधा, तृषा आदि का। देवगतिसे किसीका निर्वाण हुआ हो, ऐसा भी न सुना होगा। भोग-भूमियाके मनुष्योंमें दुःख नहीं है। पतिपत्नी होते हैं, एक साथ मरते हैं। जिन्दगीभर खेलते कूदते हैं, मिलकर रहते हैं, खाने कमाने का भी काम नहीं होता है। स्वयं ही ऐसे कल्पवृक्ष बने हुए रहते हैं, जो चाहे मांगो तोड़ो, खावो। उनके अपने जीवनमें संतान भी नहीं होती है। संतानका होना भी एक बड़ा कष्ट है। संतान हुई तो कोई तो मरेगा ही पहिले। संतान पहिले मरे तो क्लेश, खुद मरे तो क्लेश। भोगभूमियांमें सुख है खूब सांसारिक और इसी कारण वहां जीतेजी संतान नहीं रहती। जिस दिन मरनेको होत

है उसही दिन सतान होती है। न संतान ने मा पिताको देखा और न मा पिता ने अपनी संतान देखा तो फिर काहेका कष्ट ? कष्ट तो दिल मिलेका है, कष्ट तो राग और स्नेहका है। देवगतिमें भी कष्ट नहीं है। देवी देवतावों के भी बच्चे होते न सुना होगा। उनका वैक्रयिक शरीर होता है तो जहा विशेष दुःख नहीं, वहा मोक्ष भी नहीं।

दूरदर्शिता— यह समागम क्लेशके लिए ही होता है। इससे अन्य कोई दूसरी बात है ही नहीं। भले ही चद दिन जब तक बल है तब तक भले ही कुछ मौज मानलें, आखिर यह दशा सबकी होगी। ज्ञान न जगा तो रोना पडेगा। यह सबकी दशा आयेगी। इससे छूटेगा कोई नहीं। जिस जिसका भी सयोग हुआ है उस उसका वियोग नियमसे होगा। जब वियोग होगा तो यह जुदा रोवेगा, दूसरा जुदा रोवेगा, सबको पीड़ा होगी। इस कारण जब तक जीवन है, बुद्धि है, सामर्थ्य है तब तक ऐसा शुद्धपरिणाम बनावें कि मिली हुई चीजमें हर्षभाव ही न हो। ऐसा परिणाम न बनावो कि जो मुझे मिला है सब कुछ मेरा सर्वस्व है, इसी से ही जीवन है। दूरदर्शी बनो, अन्तरङ्गमें इतना मोहित मत होओ कि अपना विवेक भी खो दो। बहुत कालकी बात सोचो। एक थोडे से जीवनके लिए तो आप आगेकी बात सोचते हैं, हमारे इतना धन बन जाय कि व्याजसे ही गुजारा चले, मूलधन जरा भी न खर्च हो। बहुत आगेकी बातें सोचते हैं और इस जीवनके आगे भी मेरा क्या होगा ? इस ओर कुछ नहीं सोचते हैं। इसे दूरदर्शिता न कहेंगे, इसे आसक्ति कहेंगे।

धर्मघातसे होने वाले अनर्थकी चेतावनी— धर्मका घात करके जो विषयसुखोंको भोगता है वह भावीकालमें कहासे सुख पायेगा ? न जाने कैसी दुर्गति होगी ? न जाने कहा पडे होंगे। आज मनुष्य हैं, श्रावक कुलमें जन्मे हैं, सधर्मीजनोंमें बैठकर चर्चा भी करते हैं, धर्मपालन भी करते हैं, बड़ी सजग स्थिति है। बहुत दुर्लभतासे ऐसा अवसर पाया है। ज्ञान और वैराग्य से वासित ऋषिजनों की वाणी मिलना यह कितनी दुर्लभ बात है ? यह भी हम आप सबको प्राप्त है। बहुत उत्कृष्ट अवसर है यह। यदि इस अवसरको अपनी सुध बुध भूलकर, विषयसुखोंमें रमकर यों ही खो दिया तो कुछ अनुमान तो करो कि फिर होगा क्या अपना ?

आसक्तिसे भावी सकट— जिस वृक्षमें फल लगे हैं, उसे काटकर गिराकर फलोंको लिया तो उतने ही फल मिलेंगे, बल्कि गिराकर लेनेमें कम फल मिलेंगे और वृक्षको खडा रहने दो, थोड़ा धैर्य रक्खो, थोडे दिनके बाद में मिलेंगे तो भी उतने ही मिलेंगे, बल्कि सब मिलेंगे, पर वृक्षको काट डालने

से अगामी कालमें फल मिलेंगे ही नहीं, सुनिर्णीत बात है। ऐसे ही पूर्व काल में जो हमने आपने धर्म किया है उस धर्मके फलमें ये समस्त सुख साधन मिले हैं। हम धर्मको भूलकर भोगोंको न भोगें। आत्माकी सुध रखते हुए भोग तो भोग लें, पर इतनी बात है कि धर्मका घात करके सुख भोगेंगे तो भावीकालमें ऐसी दुर्दशा होगी कि हम सुख भोगनेके काबिल न रहेंगे। प्रथम तो सुखासक्त पुरुष इस भवमें सुख भोगनेके अयोग्य हो जाता में और फिर इस भवके बाद अगले भवमें तो वह इन्द्रिय आदिक साधनोंसे भी रहित हो जाएगा। एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय जैसे निकृष्ट भवमें उत्पन्न हो जायेंगे तो सुखसाधनोंके योग्य ही नहीं रहेंगे। यहा यह बताया जा रहा है कि धर्मकी रक्षा करते हुए सुख भोगेंगे तो भावी कालमें हमें उन्नतिका भी अवसर रहेगा और धर्मका घात करके सुख भोगेंगे तो भावी कालमें सुख भोगनेका भी कोई अवसर न मिलेगा।

धर्मविघात व धर्मरक्षण करते हुए सुख भोगनेका अर्थ— यहा यह प्रश्न कर सकते हैं कि धर्मघात करके सुख भोगनेका क्या अर्थ है और धर्म-रक्षण करके सुख भोगनेका क्या अर्थ है? इनमें अन्तर है। अन्तर यह है कि वर्तमानमें अवसर धर्म पालनेका पाया है हम सबने। इस अवसरमें पाप-रूप रहें, अन्यायरूप वर्तें, विषयोंकी तृष्णा करें, कषायके परिणाम तीव्र रखें और ऐसी प्रवृत्ति रखकर जीवन बनाकर मौज मानें तो इसे कहते हैं कि धर्मका घात करके सुख भोगा। कोई पुरुष धर्मके अवसरमें न अन्याय करें, न विषयोंमें आसक्त हों, पाये हुए सुगम विषयोंमें रहकर निर्दोष वर्तना हो, कषाय भी मन्द हों— ऐसी चर्याके साथ जो किञ्चिन्मात्र विषयोंको भोगता है और जब भी अपने आपके इस सत्यस्वरूपकी भी सुध लेते रहना है--यह है धर्मकी रक्षा करते हुए सुख भोगनेका मतलब। भैया! इस जीवका सहायी मात्र धर्म है। धर्मके प्रति प्रकृत्या अब भी हम आप सबका भाव है। जैसे घर सभी बनाते हैं, पर अपना-अपना ही बनाते हैं। यदि मन्दिर, विद्यालय या अन्य धार्मिक कार्य सामने आ जाए तो वहां सब लोग मिलकर उसकी व्यवस्था बनाते हैं। तो उसका अर्थ यही हुआ ना कि घरके कामसे भी बहुत विशेष धर्मका कार्य आप लोगोंने समझा।

धर्मके लिए सर्वस्वसमर्पण करनेका एक पौराणिक दृष्टान्त— पूर्व पुराण पुरुषोंके भी ऐसे कथानक आते हैं कि धर्मपालनके हेतु अपने प्राण भी दे दिए, पर धर्मप्रभावना और धर्मपालनमें उन्होंने अपना सकल्प न छोड़ा। अकलक और निकलक देवका कथानक सुना होगा। इन दोनों बालक महा-पुरुषोंने एक हितकारी धर्मकी प्रभावनाके ध्येयसे घरको छोड़कर जगह जगह

कष्ट सहकर विद्यार्जन किया। दोनों ही कुशल बुद्धिके थे। एक बारके देखनेमें अकलंकको और दो बारके देखने से निकलंकको विद्या याद हो जाती थी। यानक जैसा बनना होता है वैसा ही योग जुड़ जाता है। स्याद्वादका पाठ गुरुजी बौद्धशालामें पढ़ा रहे थे। एक जगह अटक गए, कोई एक शब्दकी गलती थी। पुस्तक बन्द कर दी। गुरुजीने कहा कल पढावेंगे। अकलक निकलक देवने अवसर पाकर उस शास्त्रकी गलती सुधार दी। वे तो विद्यार्थी ही थे। दूसरे दिन गुरुजीने जब सुधरा हुआ देखा तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। मालूम होता है कि इन विद्यार्थियोंमें कोई जैन भी है। अब उनका कैसे पता लगायें? कई उपाय किए। रात्रिमें अचानक २ बजे बड़े ओरकी आवाजमें बर्तनोंको पटका, उसका शोर हुआ, घबड़ाकर सब लोग अपने-अपने इष्ट मन्त्रको जपने लगे। ऐसी अचानक स्थिति में कोई बनावट की बात नहीं कर सकता है। अकलक निकलक देव अपना परमेष्ठी मन्त्र जपने लगे। बस, गुरुने उन दोनोंको पकड़ लिया, और उन्हें जेलमें बन्द कर दिया।

अपूर्व धर्मप्रभावना-प्रेम—दोनों बालक महापुरुषोंकी विशुद्ध धारणा थी, देवताओंने सहायता की, पहरेदार सो गए, कपाट खुल गए। वे दोनों निकल गए, पर दिनमें ७-८ बजे बहुत बड़ी चर्चा फैल गई। राजा ने नगी तलवार लिए हुए चारों और सैनिक भेजे और कह दिया कि जहां भी वे दोनों बालक मिलें, उनका सिर काटकर ही लाना। अकलक निकलंक चले जा रहे थे। पीछे अन्दाज कर लिया कि सैनिक नगी तलवार लिए चले आ रहे हैं, मामला तो सब समझ ही रहे थे। वहां अकलंक निकलकमें परस्पर इस बात पर विवाद हो गया कि हम ही मरेंगे, तुम जिन्दा रहो। ... नहीं नहीं... , तुम बुद्धिमान् हो, पहिले हमें ही मरने दो, तुम जिन्दा रहो और धर्मकी सेवा करो। निकलक बोला कि भाई तुम जिन्दा रहो, तुम बुद्धिमान् हो, पहिले मुझे मर लेने दो। अपनी मृत्युके लिए उनमें विवाद हो गया। निकलंक अकलकके पैर पकड़कर भिक्षा मांगता है, मेरे भाई मुझे मर जाने दो, मुझे भीख दो, तुम इस तालाबमें घुस जाओ। भला बताओ कि निकलंकका कितना बड़ा बलिदान था, जिस धर्मके हेतु महापुरुषोंने अपने प्राण दान भी किए, उस धर्मकी कितनी विशेष प्रीति होती है, इससे अंदाज कर लो।

धर्म रुचि व अधर्मव्यामोहका फल— भैया! जितना धर्मका पालन होगा, धर्ममें दृष्टि होगी, उतना तो आपका जीवन सफल है और जितना आपके लोभका पोषण होगा, मोहमें लगाव चलेगा, उतना ही आप अपना

विघात समझिए। सुख भोगने पड रहे हैं, उदय है, सो भोगते हैं, पर उस भोगमें रति न लगाना। सुखका भोगना भी और दु खका भोगना भी कर्मके उदयकी प्रेरणा है, अपने स्वभावको, अपने धर्मको तो स्वरक्षित दृष्टिसे ही लीजिए। पहिला प्रहार तो संसारी जीव पर मोहका है। गिने चुने परिजनों में अपना सर्वस्व समर्पण करनेकी भावना जगाना यही तो मोह है। उनके मुकाबले अन्य जीवोंके लिए अपने तन, मन, धन, वचनको लगाना अच्छा कर्तव्य है-- ऐसी दृष्टि भी नहीं जगती। इसे तो फिर विचित्र व्यामोह ही समझना चाहिए। ऐसे व्यामोहपूर्वक जो अपनी परिणति है, यह मोह वैरी का बहुत विकट आक्रमण है। जब तक भीतरसे मोह न हटेगा, तब तक शान्तिकी पात्रता भी न हो सकेगी। यह बात सबके लिए एक सुनिर्णीत है, गृहस्थ हो, चाहे साधु हो। गृहस्थ भी मोह रहते हुए सुखी नहीं रह सकता और साधु भी मोह रहते हुए सुखी नहीं रह सकता।

धर्मविघात न करने का अनुरोध — भैया! यह आशंका न करो कि गृहस्थीमें रहते हैं तो मोह करना ही पड़ता हैं, मोह किए बिना तो गृहस्थी रह नही सकती— ऐसी बात है नहीं। मोह कहते हैं अज्ञानको। यह दुख भी एक प्रकारके ज्ञानसे प्रकट हुआ है। एक ऐसा ज्ञान बनाए कि ये परिजन, ये वैभव सम्पदा, ये जड़ पदार्थ सब भिन्न अस्तित्व रखते हैं, मेरा भिन्न अस्तित्व है, मेरा स्वरूप मुझमें है। ऐसा जब अपना ज्ञान करना चाहें तो क्या कर नहीं सकते हैं? मोह नष्ट होने पर भी परिस्थितियां कुछ ऐसी होती हैं कि घरमें रहना होता है, राग भी करना पड़ता है, तो राग किए बिना गृहस्थका चारा नहीं चलता, यह बात तो मानी जा सकती है, पर मोह किए बिना गुजारा नहीं चल सकता है, यह बात नहीं मानी जा सकती। थोड़ा मान लो तो आपको ज्ञान जग जाय, न बचें परिजन, समागम हो तो भी क्लेश नहीं होगा। कुछ ऐसी स्थितियां होती हैं कि घर छोड़कर त्यागी बनकर किसी परिस्थितिमें नहीं निभ सकता तो किन्हीं दृष्टियोंसे कुछ धर्मपालनका ठिकाना चलो यहीं रहकर करना ठीक है--ऐसी भी स्थितियां हुआ करती हैं। मोहको दूर करें, धर्मका घात करके सुख न भोग। बस इसीसे ऐसा अवसर मिलेगा कि जिसमे हमारी धर्मसाधना चलती रहे।

कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः स्मरणचरणविषयेषु।
यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्मो न संग्राह्यः ॥२५॥

धर्मकी संग्राह्यता— धर्मका जो परमार्थ स्वरूप है, वह यद्यपि अपने आपमें गूढ़वृत्तिसे अपने आपसे ही प्रकट होता है, फिर भी उस धर्मकी व्यक्ति स्मरण, आचरण व योग्य सिद्धांत करना, उसका कारण होना,

उसका अनुमोदन करना इन सबसे परिज्ञान होता है। धर्म तो यदि एक रूप में बोला जाय तो समस्त विषय सकल्प विकल्पका जहा त्याग है और केवल शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी वृत्ति है उसे धर्म कहते हैं। विधिरूपसे तो अपने स्वरूपका स्वभाव परिणमन धर्म है और निषेधरूपसे इस परिणमनमें किसी भी परतत्त्वका सद्भाव नहीं है। ऐसा यह परभावोसे विविक्त केवल अपने स्वभावरूप विकासका नाम धर्म है। यह धर्म जिस्से बने उसका वह उत्कृष्ट पुरुषार्थ रूप है, फिर भी इसका लक्ष्य लेकर जिससे जितना आचरण बने, जिससे जितना मनन बने वह उतना करे, वह भी धर्म है।

धर्मसग्रहके लिये अनेक उपायोंका आश्रय— जैसे धन कमानेके उपाय अनेक प्रकारके व्यापार हैं तो अनेक प्रकारसे लोग धनको सचित करते हैं। और न हों किसीके पास अनेक प्रकारके वे साधन तो जिससे जितना जो कुछ बनता है वह उतने साधनोंसे ही अपनी आजीविका करता है। यों ही जो बडे बलिष्ठ आत्मज्ञानके धनी पुरुषार्थी पुरुष हैं वे सर्वविषयों का परित्याग करके एक इस विशुद्ध धर्मको धारण करते हैं। न हों किसीमें इतने साधन योग्यता शक्ति सघनन तो वे भी अपनी शक्ति माफिक विषयोंका परित्याग करके धर्म करते हैं। विषय और कषायोंकी प्रवृत्तिको ही अधर्म कहते हैं। उनमें मूल अधर्मराज है मोह मिथ्यात्व, जिसके मोह है उसके तो पाप ही पाप है, जिनके मोह नहीं रहा ऐसा गृहस्थ जितना विषयकषायोंका परित्याग करता है उतना वे धर्म पथमें चल रहे हैं और साधु सकल विषय कषायोंके परित्यागसे धर्मपथमें चल रहे हैं।

धर्मसाधनाके उद्यम— आत्माको शान्ति धर्मसे ही प्राप्त हो सकती है। विषयकषायोंमें शान्ति नहीं है। भले ही कुछ राग उठा, उस राग वेदनामें इसने रागको ही इलाज समझा और उस इलाजमे पूर्वोत्थित विशेष रागका दु ख कम हुआ तो मान लेते हैं कि मुझे शान्ति है। शान्ति तो विषय-कषायोंके परित्यागमें ही है। विषयकषायोंका परित्याग तब तक यह जीव करनेमें समर्थ नहीं है जब तक शुद्ध ज्ञानस्वरूपका श्रद्धान न हो जाय। जब तक विशुद्ध धर्ममय स्वरूप प्रकट नहीं होता है तब तक धर्म करनेके साधन जितने भी सम्भव हैं उन सब साधनोंसे धर्मवृत्ति करना चाहिए। मनसे धर्म करना, कराना, अनुमोदना करना, वचनसे धर्म करना, कराना, अनुमोदना करना और कायसे धर्म करना, कराना और अनुमोदना करना, यानेः व्यवहार साधन भी जितना बन सके, उसको भी परमार्थ धर्मकी रुचिपूर्वक करना चाहिए।

धर्मोत्साहका कर्तव्य— हे आत्मन्। धर्म करनेमें तू कठिनाईका

अनुभव न कर। धर्म जिस प्रकार भी बने, जिस साधनसे बने, जिस परिस्थितिसे बने उसही साधन परिस्थितिसे धर्म करना प्रारम्भ करो। जैसे कोई मनुष्य चाहे कि मैं इतना धनिक हो जाऊँ तो मैं आरामसे फिर धर्म कर सकूँगा, धर्म करनेमें धनिक होनेकी अटक नहीं पड़ी है। जो मनुष्य जिस परिस्थितिमें हों उस परिस्थितिमें ही अपनी उदारता रखकर, अपनी सुविधा रखकर धर्मकर सकते हैं। धर्मधन खर्चके अनुपात पर नहीं है। ऐसे ही व्यवहार धर्म भी भावोंके अनुसार अपनी शक्ति माफिक तन, मन, धन, वचनका सदुपयोग करने से होता है धर्ममें कठिनता बताकर निरुद्यमी होना ठीक नहीं है। जैसे निरुद्यमी पुरुष दरिद्री होकर दुःख ही पायगा, ऐसे ही धर्मको कठिन जानकर उसकी चर्चा से भी अलग रहकर उसकी मन, वचन, कायसे किसी भी प्रकार आस्था न रखकर दूर रहे तो वह पुण्यहीन होकर नरकादिक गतियोंमें ही दुःख भोगेगा। इस कारण हम सबको धर्मका सग्रह करना ही योग्य है।

धर्मवासना— अनेक कथाएँ ऐसी सुनी होंगी। कोई पुरुष कहीं जा रहा है, थोडासा ही भोजन साथमें है, पर कोई भूखा, कष्टमें पड़ा हुआ मनुष्य या कोई ऐसा ही दयनीय अन्य जीव मिले तो उसमें से अपने भोजन को चाहे कम करलें, पर दूसरोंको दें तो दया भाव होनेके कारण वह भी इतना बध कर सकता है जितना कि कोई हजारो रुपया भी व्यय करके चाहे न कर सके। यह सब परिणामोंके आधीन बात है। धर्मका सम्बन्ध भावोंसे है। हा, भावोंके होने पर बाह्यमें उसकी योग्यताके अनुसार धन खर्च हो ही जाता हैं, वह उसका अनुमापक है। न हो खर्च तो धर्मभावका अनुमान नहीं हो सकता है।

धर्मपालनमें सामर्थ्यका अगोपन— जैसे लोग यों कह देते हैं कि आहार दानका करने वाला भी जितना पुण्य लेता है उतना ही पुण्य आहार दानकी अनुमोदना करने वाला भी लेता है। बात यद्यपि ठीक है, लेकिन आहार दान देनेके जो योग्य नहीं है वह आहारदानकी अनुमोदना करके उतना पुण्य लेता है। कोई समर्थ होकर, मनुष्य होकर और यह श्रद्धा बनाए कि देना और अनुमोदना दोनोंका बराबर ही पुण्य है सो हम तो अनुमोदना के पुण्यका बध करेंगे, देने का कष्ट क्यों किया जाय? लेकिन जो पशुपक्षी आहारदान देनेके योग्य ही नहीं हैं, उनके अनुमोदनामें विशेप पुण्य बध होता है। जो समर्थ हैं और वह न कर सके तो उसका यह फलित अर्थ बनता है कि वह भाव नहीं है। ऐसे ही हम अपनी शक्ति और वर्तमान परिस्थितिसे धर्मको न करें और कोई बहाना ऐसा रक्खें कि जब हमारी

स्थिति ठीक होगी, तो हम धर्म करेंगे, तो ऐसा पुरुष धर्म नहीं कर सकता है। धर्म करनेके लिए विवेक चाहिए और आस्था चाहिए। धर्मका आश्रय लिए बिना यह मनुष्य जगह-जगह कष्ट ही भोगता है। जिस पुरुषमें धर्मकी आस्था है उस पुरुषका ऐसा व्यवहार होता है जो स्वयंको भी और दूसरोंको भी सुखी कर सकता है। जिनमें धर्मबुद्धि नहीं है उनके ऐसा व्यवहार बनता है कि स्वयं भी दुःखी हो जायेंगे और दूसरोंके भी दुःखी होनेमें कारण बनेंगे। इसी बातको अब इस छंदमें बता रहे हैं।

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद्धता न हतुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजाना रक्षा ततोऽस्य जगत खलु धर्म एव ॥२६॥

धर्ममें उदारता— जब तक मनमें धर्म बसता है तब तक इतनी शुद्ध वृत्ति रहती है कि यह जीव अपना घात करने वालोंका भी घात नहीं करता है। बड़े-बड़े सुभट जब समय पाकर विरक्त हुए, निर्ग्रन्थ स्थितिमें शेरोंने, स्यालिनियोंने, शत्रुवोंने उन्हें सताया, उनका प्राणघात किया। उनमें इतनी सामर्थ्य थी कि मारने को आये हुए जीवकी पूरी तरहसे खबर ले सकते थे, किन्तु उन्होंने विकल्प करना इतना अधर्म समझा कि वे विकल्प भी करने के प्रमादी रहे और निर्विकल्प इस ज्ञानप्रकाशकी साधनामें ही रुचिवान् हुए। अरे विकल्प करके एक भवका जीवन बचाया तो उससे क्या पूरा पड़ेगा? आखिर जन्म मरणकी परम्परा तो न मिटेगी। ऐसा ध्यान उन साधुवोंके रहा और मारने वालोंको भी वे क्षमा करते रहे। यही तो है साधुवृत्ति किन्तु गृहस्थामें भी जितने तक आजीविका व न्याययुक्त विचार और धर्म साधनामें बाधा नहीं आती है तहां तक अपराध करने वाले दूसरे मनुष्योंको यह ज्ञानी गृहस्थ भी क्षमा कर जाता है। हा, जब अपने आपके जीवन पर कोई बाधा आती है उस स्थितिमें अपने आपको रक्षित करनेके लिए प्रत्याक्रमण भी कर लेता है। फिर भी ज्ञानी गृहस्थके चित्तमें दूसरे जीवोंके प्रति अतरङ्गसे द्वेष भाव नहीं होता है।

धर्मसे स्वपररक्षा— जिसके चित्तमें धर्म बस रहा है जब तक, तब तक अपने मारने वालोंका भी यह मारने वाला नहीं होता है और जब धर्म नहीं रहा चित्तमें तो पिता पुत्रका, पुत्र पिताका परस्पर घात करते हुए देखे और सुने जाते हैं। इस जगतकी रक्षा धर्मसे ही होती है। कानूनों से प्रजामें सुख साम्राज्य फैलाना कठिन बात है और धर्मबुद्धि होने पर व्यवस्था योग्य बन जाना यह बड़ी सुगम बात है। बहुत समय पहिले जैसे कि सुना जाता है और वृद्ध पुरुषोंने देखा है धर्मकी बड़ी आस्था लोगोंमें थी। किसी मनुष्य को कोई मार डाले या घायल करदे तो बड़ी सनसनी

फैल जाती थी। ऐसा कैसे हो गया ? लोग साहस नही करते थे कि हम किसी मनुष्यका घात करें। वह सब व्यवस्था धर्मके कारण थी। अन्याय न होता था, किसी पर कोई झूठा अपराध न लगाता था, झूठी गवाही कोई न देता था, कोई किसीका माल न हड़पता था, शील धारण करना—ये सब बातें धर्मबुद्धिसे अपने आप चलती थीं।

व्यवस्थामें धर्मभावका समर्थ सहयोग— कानून सुव्यवस्था व शान्ति नही बना सकता है, कानून जीवोकी रक्षा नहीं कर सकता है। यद्यपि बनते हैं कानून सब, पर वे धर्मका सकेत करने वाले नहीं हैं। धर्मबुद्धि व्यापक हो जायं प्रजामें तो यह सब व्यवस्था बनती है। जैसे आज लोग चिल्ला रहे हैं कि भ्रष्टाचार वंद हो, व्लैक व्यवहार वंद हो, बहुत-बहुत प्रकारकी शक्तियां और कानून भी बनते हैं किन्तु सफलता यों नहीं मिलती कि धार्मिक स्तर जब गिर गया है, धार्मिकता लोगोंमें जग नहीं रही है, ऐसी स्थितिमें सभी यह चाहते हैं कि जिस प्रकार भी हो सके धन जोड़ें। लेकिन परिणाम उसका कटु निकलता है, परिणाम भी खोटा दिखता जाता है और फिर भी अन्याँय-वृत्तिसे चित्त निवृत्त नहीं हो पाता है। यह सब अधर्मका एक नग्न-नृत्य है।

धार्मिक वातावरणमें पवित्रता और रक्षा— इस जगत्की रक्षा धर्मके प्रसाद बिना नहीं हो सकती है। धर्मबुद्धि हो तो कोई किसीको कैसे मारे ? पहिले समयमें शिकार और हिसाका कसाईखानों का कुछ प्रचार न था। कदाचित् कोई किसी पशुको मारे तो सभी लोग उसे एक निंद्य दृष्टिसे देखते थे। इसका तुच्छ विचार है, इसका तुच्छ काम है। लोग मासका नाम भी न लेते थे। किसीके बारेमें बताना हो तो यों कहते थे कि अरे उसे क्या बताएँ वह तो मिट्टी खाता है। इतना धार्मिकताका प्रसार था। उस समयके सुखको निरखिये और आज जब कि मनुष्य दूसरे मनुष्योंके प्राणोंका भी मूल्य नहीं रखते हैं, थोड़े से पैसोंपर भी लोग हत्या करते पाये जाते हैं, ऐसी स्थितिमें सुखसाम्राज्यकी क्या आशा करें ? सुखसाम्राज्य तो सब धर्मका प्रसाद है। धर्मका आदर रहेगा तो सुख शान्ति रहेगी।

धर्मकी अनास्थामें सुख शान्तिका अभाव— यदि धर्मकी आस्था उठ जायेगी तो सुख शान्ति रह नहीं सकती। धर्म न होगा तो जो बलवान् होगा वह निर्बलको मारकर खायेगा और उससे अधिक बलवान् होगा तो वह उसे मारकर खा जायगा। आजकलके गजटोंमें कोई समाचार ऐसे भी मिलते हैं कि कोई ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो कोई बालकों को लेकर भगा ले जाते और उन्हें मारते हैं, उसका मास खाते हैं। इनका नाम पड़ा है लकड़भग्गा।

इतनी बात अभी तक न होती थी, किन्तु अब किन्हीं किन्हीं शहरोंमें इतना तक भी होने लगा है। धर्मकी बातको क्या कहा जाय? ऐसी स्थितिमें सुख की आशा कैसे की जा सकती है?

धर्म और अधर्मका संविदित फल— धर्म ही इस जगतकी रक्षा कर सकता है, और धर्ममें तो ऐसा स्वभाव ही पडा है कि इस जगत्को शान्ति दे, संतोषमें रक्खे। कुछ करके ही देखलो। अनुभव करलो खुद ही समझलो कि धर्म हमारी कितनी रक्षा करता है, परिवारजनोंमें जो मोह लगाये हुए हैं वह अधर्म है। उस मोहका फल भी आप अनुभवसे विचार लो कि मोह करते हुएमें हमें कितना मानसिक श्रम करना पड़ता है, कितनी दीनताका भाव आ जाता है, दूसरोंसे कितनी दयनीयता भरे वचन बोलने पड़ते हैं। दूसरे मुझ पर प्रसन्न रहें— इस आशामें कितना अपना प्राणघात करना पड़ता है, ज्ञानघात करना पडता है, उसे भी समझलो।

धार्मिक आशयमें आत्महितका विकास— भैया! जब कभी ऐसा उत्साह जगे ज्ञान बलसे या प्रभुकी शुद्ध शान्तमयी मूर्ति निरखकर या किसी साधु सत्संगमें किसी भी समय जब यह उत्साह जगता है कि संसारमें कहीं भी सुख नहीं है, केवल एक अपने आत्माको अकेले अपने स्वरूपमें देखा जाय तो शान्ति तो यहां ही भरी है। किसका कौन है, मेरा तो मात्र मैं ही हू—ऐसा जब धर्मस्वरूप निजआत्मतत्त्वका आदर कर लिया जाता है उस समयकी शान्तिका भी आप अनुभव कर सकते होंगे कि कैसी अद्भुत शान्ति है? शान्ति धर्म बिना प्राप्त नहीं हो सकती, इस कारण एक ही अपना निर्णय बनावो, जितना भी अपना झुकाव हो सके वह धर्मकी ओर ही करना है। धर्म करनेका अपने जीवनका लक्ष्य रक्खें, परिजन और धनसंचय का लक्ष्य न बनाएँ। ये करने पड़ते हैं, पर भीतरमें तो यह निर्णय न रक्खें कि मेरा जीवन तो मेरे कुटुम्बियोंके लिए ही है, ये कुटुम्बी ही मेरे सर्वस्व हैं, मेरा सारा तन, मन, धन वचन सब कुछ इनके ही लिए है, और जीवोंमें आत्मीयता का भाव ही न आए, ऐसा अपने जीवनका आशय नहीं बनाना है। यह राग क्लेश करने वाला है।

रागके मन्दानुभवका एक मनोनुकूल उपाय— परिजनोंमें जो राग बन रहा है उस रागको मिटाना है तो इस रागको सब जीवोंमें फैला दो। यह राग जब दो एक प्राणियोंमें ही रहता है जिन्हें अपना पुत्र स्त्री आदि जो भी माना है तो यह राग वेदना मचाता है। इस रागको जरा सब मानवों में फैला दो, सबके प्रति थोडी आत्मीयताकी दृष्टि लावो। सब व्यवहारदृष्टि से कहा जा रहा है तो आप देखिये कि वह राग फैलकर उतना बाधक न

बनेगा जितना दो एक प्राणियोंमें राग करनेसे होता है। जीवोंके शुद्ध-चैतन्यस्वरूप पर भी दृष्टिपात करे। सब जीव एक समान हैं, कुछ अन्तर है क्या ? घरमें बसे हुए जीव अथवा पड़ौसमें रहने वाले जीव या जो अपने ग्राम नगरके नहीं हैं, बाहरके आये हुए जीव या जो जो भी समझमें आ रहे हैं उन सब जीवोंका एक ही तो स्वरूप है और मुझसे वे सभी भिन्न हैं और मेरे ही समान सबका स्वरूप है। जब ऐसी बात है तब इन जीवोंमें से केवल दो एक पुरुषोंको ही छाट लेना और उनमें ही अपना सर्वस्व सौंपना यह तो एक अज्ञानका अधकार है, उन्नतिका मार्ग नहीं है। उन्नति तो जितना अपने आपके कैवल्यकी ओर आएँ, उतनी ही उन्नति है।

धर्मसाधन कर्तव्यका स्मरण— भैया ! जब तक चित्तमें धर्म बसता है तब तक तो सुख शान्ति है, धर्म अपने आपसे हटा तो क्लेश ही क्लेश हैं। लड़ाई, विवाद, ईर्ष्या, घृणा, दूसरोंसे बदला लेनेका भाव, दूसरोंको बुरा करनेका विचार —ये सारी गंदगियां जिस हृदयमें होती हैं वह मनुष्य क्या सुख शान्तिसे रह पाता है ? उसे चैन नहीं है, तभी वह कुकर्मकी ओर चलता है, उन सब दुष्परिणामोंका परित्याग करके एक धर्मका आश्रय करें तो जीवन बहुत सुख शान्तिमें व्यतीत होता है। हम अपनी पायी शक्तिके माफिक धर्मकार्यमें लगें और जो ६ कर्तव्य रोजके बताये हैं, भगवान्का भजन, गुरुवोंकी सेवा, स्वाध्याय करना, अपने सयमसे रहना, अपनी इच्छावोंका दमन करना और दान करना। ये ६ कर्तव्य जो बताये गए हैं उनको शक्तिमाफिक करनेमें लगे रहें, प्रमाद न करें और धर्मका उत्तम विकास पाने का भी अवसर पायें।

न सुखानुभवात्पापं पाप तद्धेतुघातकारम्भात्।
नाजीर्णं मिष्टान्नान्ननु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥२७॥

धर्मविघात न करके सुखानुभवका उपदेश— पूर्व प्रसंगमें यह बताया गया था कि जो प्राणी मोहसे धर्मका विघात करके विषय सुखोंको अनुभवते हैं, वे पापिष्ट होते हुए मानों वृक्षको जड़से उखाड़कर फलोंको ग्रहण करने की तरह व्यामोह करते हैं। इसमें यह प्रकाश डाला गया था कि विषयसुख भोगने पड़ते हैं किसी भी स्थितिमें, फिर भी धर्मका विघात करके न भोगना चाहिए। धर्म है आत्माके शुद्ध ज्ञान स्वभावसे विपरीत वृत्ति न होना। ऐसा भी कोई बल होता है कि सुखके भोगनेके कालमें भी सुखमें दृष्टि नहीं, सुखका आलम्बन नहीं और दृष्टि एवं आलम्बन निज ज्ञायकस्वरूपका हो। यह ज्ञान और वैराग्यके विशेष बलकी बात है। कोई स्वच्छन्द पुरुष आध्यात्मिक ऐसी मार्मिक चर्चा सुनकर अपने आपमें भी सहसा यह प्रमाद बना ले कि

शास्त्रोंमें तो लिखा है कि सुखका अनुभव करते हुए भी धर्मका घात नहीं होता है तो उससे पापका बध नहीं है, किन्तु वह बल, वह ज्ञान, वह प्रकाश कैसा अद्भुत होता है कि जो सुख भोगनेके कालमें भी वर्तमान सुखसे भी निवृत्त रहता है, इस ओर भी तो ध्यान दीजिये।

ज्ञानीके अन्तरमें भोगका अभाव— भोग होते हैं तीन प्रकारके अतीत, अनागत और वर्तमान। जो पूर्वकालमें भोग भोगे जा चुके हैं उनका स्मरण करके उनसे लगाव रखना यह है अतीत भोगोंका भोगना और आगामी कालमें अमुक-अमुक भोगोंकी प्राप्ति होना, इस प्रकारकी वाञ्छा बनाना, यह है अनागत भोगोंका भोगना और वर्तमान कालमें जो भोग भोगे जा रहे हैं, अपनी सुध बुध भूल करके, उन भोगोंमें रमना यही है वर्तमान भोगोंका भोगना। इस ज्ञानी की कितनी पवित्र परिणति है? जैसे न अतीत भोगोका भोगना बन रहा है, न अनागत भोगोंका भोगना बन रहा है और जो वर्तमान भोगोंको भी वियोगबुद्धिसे भोग रहा हो ऐसे ज्ञानीकी यह चर्चा है कि सुखके अनुभवसे पाप नहीं होता है।

धर्मकी सुखहेतुताका अभाव— सुखका कारणभूत जो धर्म है, उस धर्मके घात करने वाले जो कार्य हैं उनके आरम्भसे पाप होता है। यह प्रकरण एक सर्वसाधारण रीतिसे प्रतिपादनका है। यहां सुखका कारण धर्मको बताया जा रहा है। उसका अर्थ यह लेना कि धर्मका तो साक्षात् फल आनन्द है और धर्मभावमें रहते हुए जो अनुराग भाव बना रहता है शुभ-अनुराग, उससे विशिष्ट पुण्यका बध होता है। उसके फलमें अइन्द्रिय सुख प्राप्त होता है। वह सुख भी धर्मके सद्भावमें रहने वाले रागके फलमें हुए पुण्य बधसे प्राप्त हुआ है। अतएव उपचारसे इन वैषयिक सुखोंसे भी धर्मका फल कहा है। साधक की दृष्टि धर्मकी ओर रहती है, फिर होता क्या है, अंतरङ्गमें? जैसी वृत्ति हो उसके अनुसार फल मिलता है। तत्त्वज्ञानी पुरुषके प्राक् पदवीमें और और भी बातें होती हैं, पर दृष्टि साधककी एक धर्मकी ही ओर होती है। जैसी दृष्टि होती है उसके ही अनुसार अनुभव चलता है।

फलानुभवकी दृष्टयनुसारिता— कोई गृहस्थ घरमें रहकर भी विरक्त चित्त है, वस्तुस्वरूपके ज्ञानका उपयोग भी चल रहा है, मोह भाव नहीं है, यथार्थ निर्णय है, वह घरमें रहता हुआ भी सवर निर्जरा कर रहा है। कोई पुरुष बाह्यमें सर्व त्याग करके भी यदि उसकी दृष्टि पर्यायमें अटकी है, कल्पना रागद्वेषमें अटकी है और की तो बात क्या, मैं त्यागी हू, साधु हू—इस प्रकार साधुत्व पर्यायमें भी जिसकी दृष्टि अटकी है वह पर्यायोका पोषण कर रहा है, उसे संवर और निर्जरा का अवसर नहीं हो रहा है। जैसी दृष्टि होती है

अपनी विपदाको नहीं देखने देता है और अंधा बनाकर इस जीवको विषयों के साधनमें जुटाये रहता है। जब जीवके हृदयमें खोटी वासना पड़ी हुई है तो उसे कितना भी समझाया जाय, तिस पर भी वह अपनी कुटेव छोड़ नहीं सकता। यह है ससारी प्राणीकी स्थिति। अरे तू सुख चाहता है तो इन सुखोंमें मग्न होने से आगे सुख न मिलेगा। इस सुखमें मग्न होनेसे पाप का बध होगा, उसके उदयमे दुर्गति सहनी पडेगी, तेरा कल्याण न होगा। सासारिक सुख भी कुछ सीमाओं तक धर्मके अवलम्बनसे प्राप्त होते हैं। ये संसारके सुख भी यदि न्यायपूर्वक सीधेसे विवेक रखते हुए भोगे जाते हैं तो वह धर्मसे गिरा हुआ अभी नहीं है। उसकी दृष्टि है धर्मके लिए। जिसकी दृष्टि धर्ममय रहती ही नहीं है वह सुखमे आसक्त हो जाता है, उसे फिर दुर्गतिका पात्र होना पड़ता है।

सम्यग्ज्ञानमे दुःखकी अदृष्टि— दुःखी जीवोंको तो धर्म करनेकी चाह ही नहीं है। दु ख नाम है इन्द्रियोंको सुहावना न लगनेका। दु खसे जो पीड़ित पुरुष हैं उनको भी चाहिए कि इस धर्मका सहारा लें। दु'ख केवल एक कल्पना ही है। वस्तुत· दु'ख किसी जीवको नहीं है। जो पदार्थ जैसा है, उसका जैसा स्वरूप है तैसा ध्यानमे आ जाय, वहा दुःख ठहर ही नहीं सकता। यह मैं आत्मा देह तकसे भी न्यारा हू। किसी क्षण किसी दिन इस देहको त्यागकर भी मैं जाऊँगा। जब यह देह तकसे भी न्यारा है तो अन्य वस्तुवोंसे तो न्यारा नियमसे ही है। अन्य सब सम्बन्ध तो कल्पित हैं। बस अपने अदरमे ऐसी श्रद्धा बनावो कि मै समस्त जगतसे न्यारा हू, तो इस श्रद्धामें ही यह कला है कि उसको कष्ट नहीं रहेगा।

मोहकी सैनसे कषायवैरियोंकी प्रबलता— जगत्के मोही प्राणी अपनी सुध खोकर बाह्यकी ओर बेहताशा भागे जा रहे हैं। दमरी-दमरीकी, पैसे पैसे की तृष्णाका रग चढ़ा हुआ है। जरा-जरा सी बातों पर, अपनी मान-हानिकी समस्या घर कर लेती है। जरा-जरा सी प्रतिकूल बात होनेपर क्रोध की ज्वाला उगलने लगता है। मायाचार का क्लेश तो इसके हृदयमें निरन्तर बसा रहता है। इस शल्यसे तो यह सुखकी नींद भी नहीं सो पाता है, वहां भी यह डरसा लगा रहता है कि कहीं मेरा मायाचार प्रकट न हो जाय। इस जीवने अपने आप ही अपनी स्वच्छन्दतासे, सुधबुधको भूलसे दु ख अपने ऊपर ले लेता है।

मोहमें क्लेशकरी श्रद्धा— मोही मनुष्योंको यह श्रद्धा बनी है मोहमे कि मैं ही एक अकेला घरके इन दो चार प्राणियोंकी रक्षा करता हू, इनको पालता हू, खिलाता हू, सुख देता हू। पहिले तो यह सोच लो कि यह मनुष्य

रात दिन श्रम करके शारीरिक कष्ट सहकर आकुलता भोगकर घरके दो चार प्राणियों को खिलाता है तो पुण्य किसका बड़ा है ? पुण्य तो उन घरके दो चार जीवोंका बड़ा है, जिनको यह बडे आरामसे रखना चाहता है उनका बड़ा पुण्य है और उनके पुण्यके ही कारणके निमित्तसे इसे रात दिन उनकी सेवा शुश्रूषा करनी पड़ती है। जिनका बडा पुण्य है उनके पालनेका यह मनुष्य श्रम कर रहा है। मैं इन्हें पाल रहा हूं। अरे यह मनुष्य इन जीवों को पाल पोष नहीं रहा है, किन्तु अपने मोह अपनी कल्पनासे जो वेदना उत्पन्न होती है, जो एक कल्पना जगी है, उस पीड़ाको मिटानेकी चेष्टा कर रहा है। कोई जीव किसी दूसरेको न पाल सकता है, न रक्षा कर सकता है। सभी जीव स्वय स्वरक्षित हैं, सबका अपना-अपना उदय उनके साथ है। यह जीव व्यर्थ ही कल्पनावश दु खी हो रहा है।

मोहकी लीला— देखो भैया ! मोहकी लीला, जिसके पास आज जितनी सपदा है वह उसी सम्पदाको कम अनुभव कर रहा है। कदाचित् इससे चौथाई ही होती या होती नहीं है। लोगोके पास देखलो किसीके आपकी सम्पदाका १०० वा हिस्सा भी नहीं है। क्या ऐसे ही तुम न हो सकते थे ? उनका भी गुजारा होता है, लेकिन मोहका तृष्णाका रग ऐसा बढ़ा हुआ है कि अपनी वर्तमान स्थितिमें सतोष नहीं। तृष्णासे दो नुक्शान हैं। एक तो यह कि वह धर्मकार्य नहीं कर सकता, मन कहासे लगे ? जब एक सम्पदासचयमें, तृष्णाकी वृद्धिमें चित्त लगा रक्खा है तो धर्मके लिए कहा तो समय है, कहा उत्साह जगेगा, कहा यत्न करेगा ? यह मोही पुरुष तो अपने तन, मन, धन, वचन सब कुछ मलिन मोही जीवोंके खुश करने के लिए लगा रहा है। यह अपने हितके लिए क्या कर रहा है ? यह मुग्ध जन मन, वचन, काय व धनका उपयोग मोही जीवों के लिए कर रहा है, खुदके लिए कुछ नहीं कर रहा है।

तन मनका सदुपयोग— भैया ! इस शरीरको काममें लगाइये धर्मके लिए। यात्रा, पूजन, स्वाध्याय, सत्सग, गुरुसेवा, धर्मीजनोंका उपकार—इन बातोंमें इस तनको लगायें तो यह हुआ तनका सदुपयोग। सब जीवोंका भला विचार करें। सभी जीव सुखी हों, यह है मनका सदुपयोग। भला दूसरे जीवोंको बुरा विचारने से क्या उनका बुरा हो जायगा ? सम्भव नहीं है। इसका जो बुरा विचार है इस ही बुरे विचारका निमित्त पाकर नियमसे इसके पापबध होता है और उस पापके उदयमें अवश्य ही फल मिलेगा। दूसरेका बुरा विचारने से इस विचारने वाले का ही बुरा हो जाता है। फिर क्यों भ्रम और अज्ञान लादा है, अपने आप ही अपने आप पर क्या इतना

कष्ट लादा है। अपने ही हाथ अपनी हत्या क्यों की जा रही है ? सब जीव सुखी हों—ऐसी निर्मल भावना बनानेमें तेरा कुछ विगाड़ है क्या ? अरे मिलता सब कुछ है—स्वरूपदृष्ट रहेगा, धर्मका पथ मिलेगा, वर्तमानमें शान्ति मिलेगी, पुण्य भी बढ़ेगा, लोगोंके प्यारे रहोगे, सबका आकर्षण रहेगा। यदि मन स्वच्छ रक्खा और जीवोंके हितकी कामना रक्खी तो यही है मनका सदुपयोग।

धन व वचनका सदुपयोग— धनका सदुपयोग यह है कि कोई धर्मका कार्य पड़ा हो, कोई दुःखी दीन संकटमें पड़ा हो, ऐसा ही कोई अवसर हो तो यह जानो कि धन तो भिन्न चीज है, यह मेरे स्वरूपसे चिपकी हुई चीज नहीं है। इसका सदुपयोग करलें, धनका सदुपयोग करनेसे धन कम नहीं होता है, बल्कि पुण्यरस बढता है और फिर इससे भी अधिक कई गुणी लक्ष्मी प्राप्त होती है, लेकिन मोहमें यह जीव घरके उन दो चार जीवोंके लिए ही अपना सब कुछ खर्च करेगा। धर्मकार्योंके लिए इस व्यामोहीका उत्साह नहीं जगता है। धनका सदुपयोग है धर्मकार्यमें व्यय करना। वचनों का सदुपयोग है अपनेको भी विपदा न आये, दूसरोंको भी विपदा न आये इस प्रकारके वचन बोलना। खुद भी पापमें न लगें, दूसरे भी पापमें न लगें, इस प्रकारका निर्दोष शुद्ध वचन बोलना। इसका सदुपयोग करना उचित है। इन मोही मलिन कल्पित इष्ट जनोंके लिए धन खर्च कर देना, इसका नाम उदारता नहीं है।

संसारवासी सर्वजीवोंका कर्तव्य— ससारमें कोई जीव सुखी हो अथवा दुःखी हो—सबको यह आवश्यक है कि वे धर्म कार्य करें। यह संसार भावकी दृष्टिसे तो अपना अपना जो रागद्वेष मोहका परिणाम है इसका नाम है। यह जीव संसारमें बस रहा है इसका क्या अर्थ लेना है कि यह जीव अपने आपमें जो रागद्वेष मोहकी तरंगें उठाता है उन तरंगोंमें गड़गप्प है, उन रागादिक भावोंमें बस रहा है, यह है भाव दृष्टिसे ससारमें बसने का अर्थ। बाह्यदृष्टिसे ससारमें बसनेका अर्थ यह है कि यह जीव नाना प्रकारके शरीरोंमें बस रहा है। एकेन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचइन्द्रियके जो ये शरीर हैं, इन शरीरोंमें बस रहा है, फँस रहा है और उपचार दृष्टिसे ससारमें बसनेका क्या अर्थ लेना कि यह जो लोक है, जिसका विष्कम्भ ३४३ घनराजू प्रमाण है, इस क्षेत्रमें यह जीव भ्रमण कर रहा है।

लोकविष्कम्भ— भैया ! लोकका नक्शा देखा होगा पुरुषाकार है। जैसे ७ बालक एक लाइनमें एकके पीछे एक खडे कर दिये जायें और दोनों पैरोंको वे सब पसार कर खडे हों, अपने दोनों हाथ कमर पर रखकर खडे

हों तो यह लोकका ही एक आकार बन जाता है। उससे यह जान जावो कि यह लोक किस दिशामें कितना लम्बा चौड़ा है? एक बालककी मोटाई एक राजू व लम्बाई १४ राजूका दृष्टान्त मान लें। नीचे से ऊपर तक १४ राजू और मोटाईमें ७ राजू—और सामने से नीचे ७ राजू, बीचमें एक, टेहुनियों पर ५ और गर्दन पर एक राजू–इतने क्षेत्रका घनफल निकाला जाय तो ३४३ घनराजू प्रमाण बैठता है। एक राजूका बहुत बडा प्रमाण है। यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन का है। दो हजार कोशका एक योजन होता है, उसको घेर कर लवण समुद्र है, वह एक ओर दो लाख योजनका है, उसको घेर कर एक ओर ४ लाख योजन का द्वीप, फिर आठ लाख योजनका समुद्र है। यों असख्यात द्वीप और समुद्र चले गए हैं और क्रम-क्रमसे दूने विस्तारका घेरा होता जाता है। इतने द्वीप, व समुद्र जितने विस्तारको घेरे वह एक राजूसे भी कम है। ऐसे ही एक राजू मोटा, एक राजू चौडा, एक राजू लम्बा इसको कहते हैं एक घनराजू। ऐसी ३४३ घनराजूप्रमाण लोक है। इतनी बड़ी दुनियामें यह जीव सब जगह अनन्त बार जन्म और अनन्त बार मरण कर चुका है। कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहा यह जीव अनन्त बार उत्पन्न न हो चुका हो। ऐसे इस ससारमें यह जीव बस रहा है।

धर्मका अन्त.स्वरूप— ससारमें बसते हुए इस जीवका कर्तव्य यह है कि वह धर्म करे। धर्म नाम किसका है? धर्मको तो सभी कहते हैं, प्रत्येक मानव यह मानता है कि धर्मसे सुख होता है, पर धर्मकी व्याख्या सबकी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार अलग-अलग है। जब सूर्यग्रहण या चद्रग्रहण पड़ जाता है, उस समय गरीब लोग निकलते हैं मुट्ठी-मुट्ठी अन्न मागने के लिए और कहते हैं धर्म करो, धर्म करो। उसकी दृष्टिमें वह एक छटाक अन्न मिल जाना ही धर्म है। कोई धर्म साज शृङ्गारमें मानते हैं, कोई धर्म ऊपरी सजावटमें मानते हैं, कोई धर्म दूसरे जीवोंकी किसी पीडामें मदद करनेमें मानते हैं। धर्मकी व्याख्या सबकी अलग-अलग है और किसी दृष्टिसे किसी परकी सहायता करना आदि व्यवहारधर्मका अग माना जा सकता है, किन्तु परमार्थसे धर्म क्या है, जिस धर्मके मिलनेसे इस जीवका नियमसे सकट टल जाय। वह धर्म है हम सबको जानते देखते तो रहें, पर किसी भी वस्तुके सम्बन्धमें रागद्वेष का पक्ष उत्पन्न न होने दें। ऐसा अपने को समता की तराजू से तुला हुआ बनाये रहें तो ऐसी स्थितिका नाम धर्म है। इस धर्मके पालने से ही हम आपका उत्थान है।

दुर्लभ मानवजन्मका लाभ— यह मनुष्यभव दुर्लभ बताया गया है, अनेक कुयोनियोंमें भ्रमण कर करके किसी सुयोगसे यह मनुष्यजन्म पाया

है।' अब अपने आत्माकी कुछ सुध करे, दूसरे जीवोंके आधीन होकर, दूसरोंके प्रेममे बँधकर अपनी बरबादी मत करे। गृहस्थ धर्म पाया है तो बनायें व्यवस्था, पर अन्तरङ्गसे ममता का परिणाम न लावे। अरे पक्षीकी तरह पंख पसारकर किसी दिन उड़ गया, फिर रहा क्या तेरा यहा? किस चीजके लिए इतना श्रम कर रहा है, इतना निदान बना रहा है, इतने मसूबे बढा रहा है? धर्म ही एक प्रधान कर्तव्य है, क्यो शेखचिल्लीपन किया जा रहा कि दुनिया मुझे जान पाये, मान पाये। अरे किन्हीं लोगोंके जान जाने से कहीं मेरा उत्थान न हो जायेगा। ये दुनियाके मायामयी जन अर्थात् इस देहके बन्धनमें बँधे हुए लोग, जन्म मरणके सकट सहने वाले लोग यदि मुझे जान गये कि यह बहुत अच्छा है, पढा लिखा है, सम्पन्न है, कुछ भी शब्द कह डालें, तो ये शब्द मेरा कौनसा भला करने वाले हैं? अरे तू तो इस जगत्मे असहाय है। तेरा सहाय तेरा ही सदाचार है, तेरा ही सत्य श्रद्धान् है, तेरा ही सम्यग्ज्ञान है, तेरी ही करतूत तेरी सहायता करेगी। दूसरा कोई सहायता करने वाला नहीं है।

धर्मका स्वरूप व धर्मपालनका लाभ— धर्मका अर्थ है कि तू अपना परिणाम इतना निर्मल बना कि तू जगत्का साक्षी रह सके, ज्ञाता द्रष्टा रह सके, रच भी राग और ममताकी श्रद्धा न जम सके। गृहस्थ राग करता है पर यह मेरा है, इस प्रकारका ममत्व परिणाम रच भी नहीं रखता है। यदि श्रद्धामें ममता रच भी आ जाय, परमाणु मात्र भी यदि अत श्रद्धामें राग आ जाय तो उसे अज्ञान बताया है। वह शान्तिके पथ पर अपना कदम नहीं रख सकता। कोई जीव सुखी हो तो भी धर्म करे दुखी हो तो भी धर्म करे। धर्म सुखी जीवोंको सुख बढायेगा, धर्म दुखी जीवोंका दुख दूर करेगा। जैसे लोकव्यवहारमे धन कमाना अच्छा कहते है, धनार्जनसे जिसके ऋण नहीं है उसके धन बढ़ेगा, जिसके ऋण है कर्ज है, वह अपने उस कर्जको चुका देगा, पर कमाना तो सभी अवस्थावोंमे व्यवहारीजन योग्य मानते हैं। कर्जदार हो वह भी कमाये, न कर्जदार हो वह भी कमाये। कमाना धनकी वृद्धिका कारण है। जैसे व्यवहारमे लोग यह मानते हैं, ऐसी ही धर्मकी बात समझिये। कोई जीव सुखी हो, धर्म करे तो उसका सुख बढेगा, कोई जीव दुखी हो धर्म करे तो उसका दुख दूर होगा। सभी अवस्थावोंमें धर्मका साधन करना कल्याणकारी है।

धर्मका शब्दार्थ व धर्मोपासनाका अनुरोध— भैया! एक बार फिरसे दृष्टि इस ओर लायें कि धर्म करना कहते किसे हैं? धर्म शब्दमे ही खुद अर्थ समाया हुआ है। धर्म नाम है—पदार्थ आत्मनि य स्वभाव धत्ते स धर्म।

पदार्थ अपने आपमें जिस स्वभावको रखता है उस स्वभावका नाम धर्म है। लोग कहते भी हैं--जिसका जो स्वभाव है उस स्वभावके अनुसार काम करे। लोग कहा करते हैं कि यह तो अपने धर्मपर डटा है। मेरे आत्माका स्वभाव है ज्ञाताद्रष्टा रहना, जाननहार रहना। जाननका काम किसी भी जीव में एक क्षण भी वद नहीं होता है। क्रोध करनेका काम वद हो जायगा। कहा तक कोई क्रोध करेगा? घमड करनेका काम समाप्त हो जायगा। कहां तक कोई घमंड बगरायेगा? मायाचार भी विश्रात हो जायेगा। लोभ कषाय भी उपशान्त हो जायगा। कोई कषाय स्थिर नहीं रह पाती और कषायें कभी नष्ट भी हो सकेंगी, किन्तु ज्ञान सभी अवस्थावोंमें रहेगा। क्रोध करे, मान करे, मायाचार करे, लोभ करे तब भी ज्ञान साथ है। कषायरहित हो जाय तब भी ज्ञान साथ है। तो यह ज्ञान आत्मस्वभाव है और केवल जाननहार रहना यही धर्मका पालन है, अत ज्ञानार्जन करके, आत्ममनन करके अपना परिचय पा करके एक ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप धर्मका यत्न करें। अपना दुःख हम आप सबकी अपनी ज्ञान कलासे दूर हो सकेगा, उद्दण्डतासे तो दुःख ही होगा।

धर्मारामतरूणा फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि।
सरक्ष्यतास्ततस्तानुच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥१९॥

सुख मूलकी रक्षाका आदेश— ससारके जितने भी सुख हैं वे सुख भी किसी सीमा तक किए गये धर्मके फल हैं। ये सुख अभीष्ट हैं तो उनके कारणभूत धर्मवृक्षकी रक्षा कर व सविवेक सुखफल को भोग। ये सुख ६ रूपोंमें विभक्त हैं। कोई सुख स्पर्शन इन्द्रियजन्य है, कोई रसना इन्द्रियजन्य, कोई घ्राणइन्द्रियजन्य, कोई चक्षुइन्द्रियजन्य और कोई कर्णइन्द्रियजन्य सुख होते हैं। कुछ सुख मनके विषयके होते हैं। इन ६ प्रकारके सुखोंमें किसी भी सुखमे कोई आसक्त हो जाय तो वह पापी है, दुरात्मा है, धर्मकी जड़को खोदकर फेंक रहा है।

स्पर्शनविषयसुखासक्तिका परिणाम— स्पर्शनइन्द्रियके सुखमें ठड, गरमी, कोमल आदिक स्पर्श भी सम्मिलित हैं और सबसे निकृष्ट स्त्री कामविषयक वासनाके सुख भी निहित हैं। जो पुरुष स्पर्शनइन्द्रियके विषयसुखमें आसक्त रहते हैं वे अपने ब्रह्मस्वरूपका घात करते हैं, प्रभुसे विद्रोह करते हैं। वह प्रभु न वर्तमानमें सुखसे चैनसे रह सकता है, न परलोकमें चैन से रह सकेगा। समस्त इन्द्रियविषयोंमे सबसे विषम कठिन विषय काम वेदना को बताया है। इस कामविषयमे बुद्धि नष्ट हो जाती है। कामी पुरुषको कितना ही समझाया जाय, पर कामवेदनाकी एक ऐसी व्यथा है कि वह

पतित विचारोंको छोड़ नहीं सकता है। यद्यपि यह सुख भी पूर्वकृत कुछ धर्मपालनसे बद्ध पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होता है, लेकिन वर्तमानमें सुखका मूल कारण जो धर्म है, उस धर्मका ही कोई घात करता हो तो उसका अर्थ यह है कि भविष्य कालमें वह इस सुखसे वंचित रहेगा।

सुखार्थीका विवेक— जैसे कोई विवेकी बागवान है, वह पेड़ोंकी बडी रक्षा करता है, उन पेड़ोंको अनेक उपायोंसे हरा भरा रखता है और उनमे जो फल प्रकट होते हैं उन फलों को भी एकदम तोड़कर नहीं खाता है। एक एक करके उन फलोंको तोड़कर खाया करता है, जिससे ये वृक्ष खूब फल देते रहें और उन फलोंका आनन्द भी बहुत काल तक मिलता रहे। कोई पुरुष फलोंके लोभमे आकर पेड़ोंको जड़से ही उखाड़ दे तो भले ही वर्तमान समयमे वह कुछ फल खा ले, पर आगामी कालमें वह फलोंसे वंचित रहेगा। यों ही ये संसारके सुख धर्मरूपी बागवृक्षके फल हैं। कोई पुरुष इस सुखमें आसक्त होकर धर्मकी जड ही काट दे, धर्मवृक्षको उखाडकर फेंक दे तो भले ही कुबुद्धिवश वर्तमानमें कुछ सुखका भोग करले, किन्तु भविष्यमें उन सुखोंके भोगके योग्य भी वह न रहेगा। मरकर एकेन्द्रिय हो गए, पेड बन गए, दोइन्द्रिय आदि कीडे मकौडे हो गए, अब उनका जीवन कौनसा विकासमय जीवन है? भैया! यह मानवजीवन विकास प्राप्तिके लिए मिला है, इसे पाकर अपने विकासका अवसर नही खो देना है। यह मन हस्तीकी तरह उद्दण्ड है। जब तक किसी देव शास्त्र गुरुकी आनमें नहीं चलते हैं जब तक इसकी उद्दण्डता नहीं समाप्त कर सकते हैं, तब तक ये जीव अपना उत्थान नहीं कर सकते हैं।

रसनाविषयसुखासक्तिका परिणाम— रसनाइन्द्रियसे प्रकट होने वाले सुख, रसों और उनके मिलापसे उद्भूत विविधरसके स्वादके सुख हैं। खट्टा, मीठा, कडुवा, चरपरा, कषायला इत्यादि रसोंमें जो आसक्त होकर गिरता है वह धर्मवृक्षको जड़से उखाड़ता है। कोई मनुष्य खट्टे का लोभी है, उसे खटाई का रस ही अधिक पसंद होता है। चाहे उस रसके सेवनसे अनेक बीमारियां हो जायें और अनेक उपद्रव खडे हों, फिर भी जो जिस रसका लोभी है वह उसकी बान नहीं छोड़ता है। कोई मीठेका लोलुपी है, मीठा विशेष खानेसे दांतके मसूडे भी कमजोर हो जायें, दांतोंमें कीडे भी पड़ जायें, पेटमें भी कीडे पड़ जायें, लेकिन उस मिष्टके लोभमे आकर वह अपना वर्तमान और भावी कुछ भी कल्याण नहीं गिनता है। कोई कड़ुवे रसका लोभी होता है। करेले कड़ुवे हुआ करते हैं, मेथी कड़ुवी होती है, कई चीजें बड़ी कड़वी होती हैं, पर उनको खानेकी भी बहुतसे लोगोंको रुचि

जगती है। कोई चरपरी, कषायले आदि पदार्थोंके खानेका लोभी है। इन रसोंके सेवनसे कुछ सुख तो होता है और ऐसा सुखसाधन मिलना आपके वर्तमान कल्पनाके वशकी बात नहीं है। पुण्यके उदयमें मिलता है और विशिष्ट पुण्यका सम्बन्ध उस जीवके होता है जिसके धर्मकी दृष्टि रहती है। तो ये सुख भी धर्मके ही फल हैं, किन्तु जो इन सुखोंमें गडगप्प होकर गिरते हैं, वे धर्मकी जड काटते हैं।

घ्राणविषयसुखासक्तिका परिणाम— घ्राणइन्द्रियका विषय ले लो, इसमें भी कितनी मूढता भरी हुई है। इत्र फुलेल फुवा, सुगधित कार्ड—इन सबका उपयोग करना, इनसे इस जीवका लाभ क्या है? अरे सहज जो वातावरणमें सौरभ है वह मिल रहा है, ठीक है पर बनावटी और जानबूझ कर इत्र फुलेलोंके लिए श्रम करना अथवा उपयोग लगाना ऐसा तो कोई यहा बडे पुरुष भी नहीं करते हैं। छोटी प्रकृति वाले लोग इन गन्धोंके शौकमें समय गुजारते हैं। इन्हीं समस्त सुखोंमें आसक्त होकर वर्तमान सुख भी नहीं पाते हैं और भावीकालमे भी सुखसे वचित रहनेका यत्न करते हैं।

नयनविषयसुखासक्तिका परिणाम— चक्षुइन्द्रियजन्य सुख कुछ सुहावने रूप इसे सुहा गये, सो उन रूपोंके देखनेमें अपनी आखोंको कष्टमें डालते हैं। पलकोंको तेज उठाकर बाहरमें देखते रहनेका यत्न करते हैं। सुहावना है क्या जगतमें रूप? यह शरीर अशुचि धातुवोंसे भरा हुआ है। जिस शरीरसे लोग प्रीति करते हैं, जिस शरीरके रूपको लोग टकटकी लगाकर देखते हैं और अनेक प्रयत्न करके जिस इन्द्रियजन्य सुखसे अपना मन भरते हैं, वह रूप है क्या? इस शरीरमे चाहे कोई कितना ही निरोग हो, परतु ढाई, तीन, चार सेर मल हर समय पेटमें पडा रहता है। यदि न पड़ा रहे, कम हो जाय तो उसकी मौत हो जायगी। यह मुख जो सारे शरीरमे विशेष कामी जनोंको प्रिय रहता है, जितना मल इस मुखमें भरा है, उतना मल तो हाथ पैरोंमे भी नहीं है। नाक, थूक, कफ, लार, खकार, कीचड़ कलेऊ आदि कितने ही मल इस मुखमें पडे हुए हैं। जो मलसे भरा हुआ शरीर है उसमें मोहीजन, कामीजन आसक्त होते हैं। उनकी इस आसक्तिका यह फल होगा कि अब वह अपने धर्मकी जड काट रहे हैं, सो भावी कालमें उनको आखे तक भी न मिलेंगी। जसे कोई कीडे होते हैं, जिनके आखें भी नहीं हैं। उनका एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय जीवोंमे जन्म होगा जो इन आखोका दुरुपयोग करेगा।

कर्णविषयसुखासक्तिका परिणाम— कर्णेन्द्रियका सुख—थोडे राग भरे वचन सुन लिये, गीत रागीत सुहावनी चटक मटककी बातें सुन लीं,

अचौर्य अणुव्रत, ब्रह्मचर्य अणुव्रत, परिग्रह परिमाण अणुव्रत। अहिंसा अणुव्रतमे यह ज्ञानी गृहस्थ सकल्पी हिंसाका सर्वथा त्याग कर देता है। जिस ज्ञानी ने सब जीवोका स्वरूप अपने समान जाना है और द्रव्यत अपने से भिन्न जाना है उसको अन्तरमें कभी यह इच्छा नही हो सकती है कि मै किसी दूसरे जीवका बुरा कर दू, लेकिन कोई परिस्थिति ऐसी होती है गृहस्थकी पदवी मे कि कभी विरोधी हिंसा भी बनती है, उद्यम करता है, सो उद्यमी हिसा भी बनती है। रसोई आदिक आरम्भ करता है सो आरम्भी हिंसा भी बनती है, लेकिन उन प्रवृत्तियोमे भी गृहस्थके बड़ी सावधानी रहती है और उसका खेद रहता है। यह है गृहस्थका अहिंसा अणुव्रतका स्वरूप।

सत्यादि अणुव्रत— यह गृहस्थ सत्य बोलता है। व्यापारमें, व्यवहार में इसके झूठकी प्रवृत्ति नहीं होती है। निश्चयसे आत्माके कार्यके प्रयोजनके अलावा अन्य जो कुछ भी वचन हैं चाहे यह जैसी बाते हैं वैसी ही हो, फिर भी सत्य कहलाती हैं। ऐसे असत्यका त्याग साधुओंके होता है। यह गृहस्थ आरम्भ व्यापारविषयक यथार्थ वचन बोलकर अपनी आजीविका का काम करता है। इस गृहस्थको केवल दो ही काम पडे हुए हैं— एक आजीविका, दूसरा जीवोद्धार। जिस काममें न आजीविकाका सम्बन्ध है और न जीवोद्धारका सम्बन्ध है उसे यह अनर्थ समझता है और उन अनर्थकी बातोमें यह ज्ञानी गृहस्थ नहीं लगता है। अचौर्यअणुव्रतमे यह ज्ञानी गृहस्थ किसीकी चीजोको चुराता नहीं है और अचौर्यव्रतसे रहता है। ब्रह्मचर्य अणुव्रतमें स्वक्षर सतोपवृत्ति रहती है और परिग्रह परिमाण अणुव्रतमे परिग्रहका परिमाण रहता है। इन पञ्चअणुव्रतोंकी वृत्तियोंसे गृहस्थ रहे और अपना जो धार्मिक कर्तव्य है— देवपूजन, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, सयम, तप दान इन कार्योंमे भी अपनी शक्ति माफिक लगा रहे तो यह गृहस्थ ऐसा सुन्दर सुयोग पाएगा कि संसार-सकटोंसे बचेगा और आत्मानुभव यथा समय करके यह अपना जन्म सफल करेगा। जो पुरुष आचरण सही करते हैं, उन्हें आनन्द प्राप्त होता है।

दृष्टान्तमे एक लकड़हारेका अणुव्रत— एक कथानक है कि एक धर्मस्थानमें रोज शास्त्र सभा होती थी। एक बार उस शास्त्रमें एक लकड़हारा भी पहुंच गया। उस दिन पण्डितजी व्याख्यान दे रहे थे पांचो प्रकारके पापोंके त्यागका। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन पाचो प्रकारके पापोंसे क्या अनर्थ होता है ? इसकी व्याख्या को सुनकर लकड़हारेने सोचा कि मैं और कुछ तो हिंसा करता नहीं। केवल हरी लकड़ी काटकर लाता हू,

सो अब मैं हरी लकड़ी न काटूंगा, सूखी लकड़ी ही लाऊँगा। मैं झूठ तो कुछ बोलता न था, हां इतनी बात जरूर थी कि लकड़ीका गट्ठा यदि ८ आनेका होता है तो उसे १४ आनेसे ठहराना शुरू करता था। सो अब मैं इतना भी झूठ न बोलूंगा, जितनी कीमत लेना उचित होगा, उतने ही दाम बोलूंगा। चोरी में केवल कभी-कभी चुंगीके दो पैसे बचा लेता था, सो अब मैं उन्हें भी न बचाऊँगा। ब्रह्मचर्यके विषयमें वह सोचता है कि मैं कभी परस्त्रीकी ओर दृष्टि नहीं देता, इस ब्रह्मचर्य में मैं क्या करूँ कि अब अपनी स्त्रीसे भी ब्रह्मचर्य रक्खूँगा—ऐसा प्रतिज्ञा की और परिग्रह परिमाणमें उसने यह हिसाब बनाया कि मैं आठ आने रोज कमाता हूं उसमें २ आने प्रतिदिन मैं दान करूँगा, ४ आनेसे सब घरका खर्च चलाऊंगा और दो आने पैसे इस लिए संचय करूँगा कि घरमें कभी विवाह काम काजका अवसर आये अथवा कहीं तीर्थयात्रा जाना पडे तो उनमें खर्च करूँगा। इस प्रकार वह लकड़हारा बहुत आनन्दसे रहने लगा।

लकड़हारेकी व्रतपालनमें सफलता— एक बार वह किसी बडे सेठकी हवेलीके नीचे से निकला। होगा किसी बडे धनिक पुरुषका वह मकान। रसोइयाको लकड़ी की जरूरत थी तो रसोइया नीचे आकर कहता है कि अरे लकड़हारे लकड़ी बेचोगे। हां हां बेचेंगे। कितनेमें दोगे? ८ आने में देंगे। अरे ४ आनेमें दोगे क्या? नहीं। ६ आनेमें दोगे क्या? नहीं। ७॥ आनेमें दोगे क्या? नहीं। लकड़हारा जब कुछ आगे बढ़ गया तो रसोइयाने कहा, अच्छा-अच्छा लौट आवो। वह लौट आया सो वह रसोइया कहता है ७॥ आनेमें दो। तो लकड़हारा बोला कि तू किस बेईमानका नौकर है? मालिक सभी बातें सुन रहा था। सोचा कि खरीद तो रहा है यह नौकर और गाली दे रहा है हमें। लकड़हारेको सेठने बुलाया और पूछा कि तुम हमें बेईमान क्यों कहते हो? तो लकड़हारा बोला— महाराज सुनो, हम आपकी शास्त्रसभामें एक दिन गए थे। वहां हमने पापके त्यागका उपदेश सुना। सारा किस्सा सुनाया, मैंने तो इस इस तरहसे सभी पापोंका त्यागकर दिया। मैं झूठ नहीं बोलता। मैं शुरूसे ही ८ आने कहता जा रहा था और जब बहुत दूर निकल गया तो इसने कहा— अच्छा-अच्छा लौट आवो। तो इसका मतलब यही तो हुआ ना कि आठ आने में ले लेंगे, पर जब लौट आया तो कहता है कि ७॥ आनेकी दोगे? तो मैंने यही अर्थ लगाया कि यह नौकर ऐसे ही वातावरणमें रहता है। जैसे वातावरणमें रहता है वैसा ही तो असर इस पर पडेगा, इसलिए मैंने यों बोल दिया। वह धनिक बड़ा प्रसन्न हुआ और लकड़हारेसे क्षमा मांग ली। बोला कि हम भूलपर थे,

जो काम हमें करना चाहिए वह न करते थे।

दुर्विचार और सद्विचारमें विषाद और प्रसन्नता--भला दूसरे मनुष्य को, जीवको आप कुछ गाली देना चाहें तो इसके लिए अंतरङ्गमें आपको कितना कष्ट उठाना पड़ेगा ? हिम्मत बनानी पड़ेगी, छाती भी धड़केगी, भय भी रहेगा, मुश्किलसे आप दूसरे को गाली दे पायेंगे। और उस गाली देने का परिणाम क्या होगा कि वह दूसरा भी गाली देगा, लड़ाई होगी। पता नहीं कितना अनर्थ हो जाय ? किसीकी आप प्रशंसा करना चाहें तो बड़े खुश होकर आप प्रशंसाकी बात बोल सकते हैं। उसमें कोई क्लेश न होगा और दूसरा सुनकर भी बड़ा प्रसन्न होगा और सुनने वाले जितने लोग हैं उनकी भी दृष्टि बहुत अच्छी रहेगी। पापकी बात संकल्पमें भी आये तभीसे कष्ट होने लगता है, फिर पाप करनेके साधनोंका सचय करे, वहां भी कष्ट होना है, पाप करे तब भी कष्ट होता है, पापके फलमे भी कष्ट होंगे। जो काम कष्टके लिए ही हो रहे हैं, कष्टकारी ही हैं उनमें क्यों रुचि करना ? धर्म ही एक सुखका कारण है। इस कारण इस ग्रन्थमें धर्मधारणका उपदेश दिया है।

आचार्यदेवका सुगम सुकुमार उपदेश– आचार्य गुणभद्र स्वामीने भूमिकामे इन जीवोंको यह समझाया था कि हे जीव ! तू सुख चाहता है और दुःखसे डरता है तो तेरे ही मनके माफिक मैं बात कहूगा, जो सुख दे और दुःखसे दूर करे। घबड़ा मत। हे जीव ! तुझे ऐसा उपदेश मिलेगा कि कही भी कष्ट न होगा। सब काम तुझे अपने भावमे ही करना है, फिर बाहरसे जो क्रियाएँ होंगी वे तुझे सहज हो जायेंगी, होती रहेंगी। भावोंमें उत्तम बात लेना कोई कष्टकी बात नहीं है और ज्ञानका काम जानना है। किसी पदार्थ का हम विपरीत स्वरूप न जानें, सही स्वरूप जानलें। तुझे उसमे कोई कठिनाई है क्या ? कुछ भी तो कष्ट नहीं है। धर्मका पालना बहुत ही सुगम और सुखकारी है और अधर्मका पालना, अनेक प्रकारकी प्रवृत्तिया ये विषम हैं, कष्टकारी हैं, परन्तु मोहका विष ऐसा चढ़ा है कि धर्मकी अत्यन्त सुगम स्वाधीन बात भी इसे कष्टकारी लगती है और जो बात त्रिकाल भी नहीं की जा सकती है उसके कर्तृत्वमे, उसके भोक्तृत्वमे इसका सकल्प विकल्प बना हुआ है। तू यथार्थ ज्ञान कर अपने आत्मस्वरूपको संभाल, धर्मकी ओर रुचिकर। सुख धर्मसे ही प्राप्त होगा। उस धर्मसे प्राप्त हुए वर्तमान सुखको तू स्वच्छन्द होकर मत भोग, किन्तु धर्मदृष्टि रखकर धर्मकी रक्षा करते हुए इस सुखको भोग। इस प्रकार इस छन्दमें धर्मरक्षणके लिए उपदेश किया है। अपने धर्ममय स्वरूपको पहिचान और इस धर्ममय स्वरूपमें ही रमण करके भव-भवके सचित कर्मोंका विध्वस करदे।

भीतमूर्तिर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तिका:।
दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा ॥२९॥

दयनीय स्थिति— इस छंदमें शिकार खेलने का पाप करने वालेकी क्रूरताका चित्रण किया गया है। जंगलमें हिरणिया जिनकी भयवान तो मूर्ति है, तनिक भी पत्तोंकी आहटसे भय मानने वाले ये जानवर हैं और उस जंगलमें उनकी रक्षाका कोई साधन भी नहीं है, निर्दोष हैं हिरणिया, वे मांसाहारी भी नहीं होतीं, केवल घासफूस खाकर अपना पेट भरती हैं उन जंगलोंमें, जिन जंगलोंमें किसी की खेतीका भी नुक्सान नहीं। अत्यन्त निर्दोष हिरणिया हैं, जिनका केवल शरीरमात्र ही धन है, और उन हिरणियों के पास क्या है ? ऐसी घास खाती हुई हिरणियोंमें शिकारी जन अचानक तीर या गोली मारकर उनके प्राण हरते हैं। वे हिरणिया अपने प्राण गवा देती हैं। फिर अन्य प्राणियोंकी तो बात ही क्या करें? थोड़ासा मन बहलाने के लिए एक शिकार खेलनेमें कुछ मौज मानना, इसके लिए भोले जीवोंकी हत्या कर देते हैं तो उनका आशय कितना अज्ञानसे भरा और क्रूर होगा।

क्रूरतामें तरसका अभाव— और भी देखो भैया ! कितने ही लोग, छोटे विचारके, खोटे आचरणके लोग चूहोंको पकड़ कर उसकी पूछमें रस्सी बाधकर जलती हुई अग्निमें छोड़ते हैं, फिर उठाते हैं, फिर छोड़ते हैं। कैसा क्रूर आशय भरा हुआ है, उन जीव जन्तुवोंके प्रति रंच भी दयाका परिणाम नहीं होता। और भी अनेक घटनाएँ ऐसी हैं— बैलोंका भैंसोंका कंधा सूझ रहा है, लोहू भी चू रहा है, फिर भी उन पर बहुत बोझ लाद देते हैं। नहीं चलते हैं तो चाबुक और अरई इत्यादिसे बड़ी कठिन वेदनाएँ देते हैं। यह कथा और जीवोंकी है— ऐसा भी ध्यान न लायें। यह कथा हम आप सबकी है। हम आप भी कभी उन पर्यायोंमें रहे होंगे और इस तरहकी वेदनाएँ सही होंगी। मुर्गा मुर्गी शूकर आदि इन जानवरोंको तो कितने ही लोग पाल पोषकर यों ही जीवित आगमें फेंक देते हैं, कितनी निर्दयताके साथ उनका प्राणघात होता है, इस ओर थोड़ा भी उनके मनमें तरस नहीं आता है।

मोहनिद्राके स्वप्नमें हर्ष माननेका अनवकाश— अब समझिये कि हम आपने आज कितना उत्कृष्ट अवसर पाया है ? यह अवसर तन, मन, धन, वचनको सर्वस्वको परिजनमें लगानेका नहीं है, यश प्रतिष्ठा आदिमें ममता करनेका नहीं है। यहा न चेते, और यही बेढगी रफ्तार बनी रही जो अनादिसे करते आये हैं तो इसका परिणाम बिल्कुल स्पष्ट है, क्या होगा ? अरे इस मकान दुकान, धन वैभव सोना चादीमें क्या रक्खा है ? इस देह झोंपड़ीसे निकलकर तू न जाने कहा पहुंचेगा ? फिर क्या तेरे लिए यह

नगर है और क्या यह समागम है। मोहकी नींदमें कुछ दिनो के लिए स्वप्न सा आ रहा है। जैसे स्वप्नमे स्वप्नकी देखी हुई बात झूठ नहीं मालूम होती है, इसी प्रकार इस मोहनिद्रामे देखे जाने वाले ये दृश्य, ये द्वेष, ये घटनाएँ, ये झूठ नहीं मालूम होते हैं। एक परमार्थस्वरूपकी सभाल करलो अन्यथा जो दशा सर्वसंसारी जीवोंकी हो रही है वही अपनी भी होगी। किसी भी विषय सुखमें, किसी भी अन्तर्वृत्तिमें हर्ष न माने।

रौद्रध्यानकी भयंकरता— देखो रौद्रध्यान तो सुखको दे रहा है और आर्तध्यान दुःखको दे रहा है, फिर भी दु ख देने वाले आर्तध्यानसे सुख देने वाला यह रौद्रध्यान विकट भयकर है। रौद्रध्यानके मौजमें मस्त हुआ यह जीव सप्तम नरकमें भी जन्म ले लेता है। रौद्रध्यान किसी न किसी प्रकार पचम गुणस्थान तक ही रह पाता है और आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक भी हो जाता है। रौद्रध्यान आर्तध्यानसे बहुत विषम और भयकर है। हिंसा करते हुए आनन्द मानना यह शिकारियोको बड़ा सस्ता मालूम हो रहा है, किन्तु इसका फल बड़ा कठिन होगा। दूसरा कोई उसके फलको भोगने न आएगा। मृषानन्द झूठ बोलनेमें, मौज मानना, किसीकी निन्दा करनेमें, किसीको झूठा दोष लगानेमें, अपयश फैलानेमें, असत्य वचनोके बोलनेमें मौज मानी जा रही है, परन्तु हे यात्री! कुछ विराम ले, ठहर और अपनी इस खोटी धुनमें मत बह जा। अरे! सब जीवोको अपने ही समान स्वरूप वाला जानकर कुछ तो चेत। किसके लिए हम झूठ बोले, किसके लिए हम शल्य करें, इनसे तो खुदका ही अकल्याण है। इस प्रकार परधनहरण से, चोरीसे, डकैतीसे अथवा अन्य किसी प्रकारके छल कपटसे किसी पर अन्याय करना, धनसचित करना, भले ही यह बहुत सस्ता मालूम हो रहा है, किन्तु इस प्रवृत्तिमे इस आत्माको अपनेसे बहिर्मुख कितना अधिक होना पड़ता है, मानों यह खुदमें रीता बन गया है, खुदमे कुछ नहीं है। एकदम यह सब उपयोग बाहरकी ओर लग जाता है। ऐसी बहिर्मुखतामे यह संक्लेश भोगता है और भावी कालमें भी यह विकट संक्लेश भोगेगा।

भूलकी चेतावनी— भैया! यह धन वैभव तो साथ न रहेगा। मरते समय तो एक धागा तक भी साथ नहीं जाता। यह कमीज कोट पहिने हुए में मरे तो भी उससे क्या होता है? यह तो अमूर्त जैसा अपने स्वरूपमें है उस रूप ही यहा से निकल जाता है। कुछ अपनी भी स्मृति करो, कुछ स्व हितका भी ध्यान रक्खो, किसके लिए इतना परिश्रम किया जा रहा है? परिश्रम भी केवल कल्पनाका ही है। घरमे जो जीव बस रहे हैं उन सबका अपना अपना उदय है। उनके उदयसे उनका सब कुछ हो रहा है, पर यह

मोही प्राणी यों विकल्प कर रहा है कि मैं ही तो इन्हें पालता पोसता हू, मै ही यह समस्त कमाई करता हू। अरे! तू तो केवल अपना विकल्प बनाया करता है। घरके दूसरे प्राणियोंका उदय उनका उनके साथ है। तू उनके सुख के लिए निमित्त बनेगा ही, क्योंकि उनके टचमें तू है। व्यर्थ क्यों कल्पनाएँ बनाकर भ्रम किया करता है? कुछ चेत और स्वहितके काममें भी लग। यों चार प्रकारका रौद्रध्यान इस जीवको निरन्तर आकुलित ही बनाए रहता है।

क्रूरताकी तीव्रता—इस प्रकरणमें शिकार खेलनेके पापका स्वरूप दिखाया है। देखो लौकिक पद्धति, जो राजा आदिक समर्थ पुरुष हैं वे भी भगवान्को नहीं मारते हैं। बडे बडे पुरुष जिसके अधिकारमे लोकव्यवहार से यह समस्त प्रजा है, जिसे चाहे उसको दण्ड दे, मारे, कुछ करे, फिर भी जो भगवान् हो उसे नहीं मारते, और की तो बात क्या? युद्ध करते हुए कोई सुभट यदि भगवान् होकर हथियार त्याग दे, कुछ नम्र बनकर सामने आवे तो सुभट भी उस पर आक्रमण नहीं करता है, लेकिन केवल एक दिल बहलानेमें मौज मानने वाले लोग ऐसी भीनमूर्ति हिरणियोंको भी मारते हुए कुछ भी अपनेमें अटक नही पाते हैं। देखो जगत्मे जिसका कोई रक्षक न हो उसको कोई नहीं मारता है। लोग उस पर दया करते हैं। जो बेचारा असहाय है, उसे तो लोग सहायता देनेकी विधि बताते हैं, लेकिन एक केवल शिकारसे दिल बहलानेके भावसे अरक्षित जीवों पर जिनकी रक्षाका कोई साधन नहीं है, उन जीवों पर हथियार चलाए जाते हैं। ये पशु निर्दोष हैं, न ये किसीकी चोरी करते हैं, न किसीका कुछ हरण करते हैं। अरे केवल देहमात्र ही उनका धन है, फिर भी रौद्रध्यानी पुरुष ऐसे पशुओंको मारने में भी सकोच नहीं करते हैं। लोकमें यह प्रसिद्ध है कि कोई पुरुष दातमें एक तृण लगाकर सामने आए तो उसे समर्थ पुरुष अभय देते हैं, क्षमा कर देते है, पर ऐसे निर्दोष दन्तलग्न तृण पशुवोंको भी शिकारी पुरुष मार देते हैं। अन्यकी तो कथा ही क्या है? यों मौज मानते हैं पापमें, किन्तु इसके फल में तो उस कालमे भी क्लेश है और भविष्यकालमें भी क्लेश है।

जिस प्रकार इस हिंसामें पाप है और फल भी इसका बहुत कठोर प्राप्त होता है— ऐसे ही पैशून्य आदिकमे भी यह अवगुण है उन्हें भी त्यागें, इस बातको अब अगले छदमें बता रहे हैं।

पैशून्यदैन्यदम्भास्तेयानृतपातकादिपरिहारात्।
लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयशः सुखायार्थम् ॥३०॥

पैशून्यादिके परिहारका उपदेश— हे भव्य! तू चुगली, दीनता, कपट, चोरी, असत्य आदिक पापोंका परिहार करके दोनो लोकमें हितका सम्पादन

कर, धर्म प्रवृत्ति कर, धर्म अर्थ और सुख के लिए। भले आचार विचारसे रहनेमें धर्म भी पलता है और धन भी आता है, यश भी बढ़ता है और सुख भी बढ़ता है। कुकर्मसे, असत्य प्रलापसे, दूसरोंकी पीड़ा करने से या छल कपट दीनता आदि करनेसे यह जीव न तो धर्मका ही पात्र है और धन कमानेका भी पात्र नहीं होता है। कोई पुरुष झूठ बोलकर कुछ धन कमाले तो झूठ बोलनेसे धन नहीं कमाया। भले ही यह झूठ बोले, पर ग्राहकने तो इसे सच्चा जानकर ही पैसा दिया। कोई भी ग्राहक दूकानदारको झूठ जानता हो तो वह पैसा न दे सकेगा। तो वह जो कुछ आया है वह सच्चाईके कारण आया है और फिर जितना जो कुछ जैसे आना होता है, आता है। केवल असत्य व्यवहार करके पाप ही केवल कमा लिया जाता है। जितना हम अपना विशुद्ध ज्ञान बनाए और अपनी प्रवृत्ति भी विशुद्ध बनाएँ, यही तो हमारे लाभकी बात है।

परमविश्राममय क्रान्तिका सकेत-- भैया ! न तो यथार्थज्ञान करनेमें भी कष्ट है और न ज्ञानानुसार अन्तरमें वृत्ति बनानेमें भी कष्ट है। कदाचित् कोई विषयसुख बाधारूप कष्ट आता है तो यह उसे कष्ट माने तो भले ही माने, पर वह तो कुछ कष्ट है नहीं। अरे कुछ कल्पित बाधा आ गई तो आ जाने दो। वह तो सब कुछ बाह्यकी बात है, कहीं भी कष्ट नहीं है। मात्र ज्ञानकी शुष्क चर्चा करे हम और अन्त क्रोध, मान, माया लोभ आदि कषायोंका परिहार न करे, उनको ग्रहण करे रहें, उनसे भिन्न केवल ज्ञानस्वरूपमात्र निज परमात्मतत्त्वका किसी भी क्षण अनुभव न कर पायें तो यह जिन्दगी क्या जिन्दगी है? यों तो पशु पक्षी सभी जीवित रहा करते हैं। सब अपने अपने पर्यायके अनुसार विषयसुख भोग कर सुख माना करते हैं, वही दशा इस मनुष्यभवमें भी हुई तो उन पशुओंसे और अपनेमें अन्तर बताने वाली बात क्या होगी?

दूरदर्शिता-- भैया ! जब किसी दिन यह ससार ही छोड़ जाना है। बहुत दूरदर्शितासे देखो तो जब किसी दिन देह, द्रव्यकर्म, रागादिक भाव-कर्म, इन सबका परित्याग करके केवल रह जाना है, मुक्त हो जाना है तो फिर यहा कुछ छोड़ते हुए क्यो कष्ट माना जाय। जब आयुके अन्तमें ये सब मकान दूकान वैभव सब कुछ त्याग करके जाना पड़ेगा तो जितने काल जीवन है उतने कालमें इन परद्रव्योंसे, धन वैभवसे ममता करके कौनसा लाभ लूट लिया जाएगा। अपना आचार विचार, ज्ञानप्रवर्तन कुछ आत्म-हितके लिए बनाएँ।

श्रावकोंके षट्कर्तव्योंमें देवपूजाका स्थान-- देखिए श्रावकोंके कर्तव्य

में जो ६ आवश्यक बताये गए हैं उन ६ आवश्यक कार्योंमें न रहे कोई श्रावक तो उसकी दशा एक विचित्र हो जाती है। जैसे बनारसीदास जी ने कहीं कहा है, यथा ऊंटका पाद वह स्थिति बन जाती है। इन ६ कर्तव्योंमें अपने हितका सम्बन्ध है इस पदवीमें, ध्यान तो लाये। देवपूजा, वीतराग सर्वज्ञदेव जिनके कि आत्माका शुद्ध विकास पूर्ण हो गया है, उनके इस सहज गुणका परिणतियोंका, इनके गुणोंका ही स्मरण, हमारा धर्म पापमलको दूर करनेमें समर्थ है। देखो पूजा तो सभी मनुष्य कर रहे हैं, फर्क इतना है कि कोई देवपूजा करता है तो कोई स्त्रीपूजा, कोई कुटुम्बपूजा, कोई दुकानपूजा, जिनका उपयोग जिसमें लगा है उसकी उपासना कर रहे हैं। न देवपूजा करें तो घरकी अटपटी पूजा करेंगे। अरे उत्तम बातमें मन न लगे तो भी जबरदस्ती करो, श्रद्धा तो है। देवपूजा श्रद्धा गुणको पुष्ट करने वाली क्रिया है।

गुरुसेवा— दूसरा आवश्यक कर्तव्य है गुरु सेवा, गुरुजनोंकी सेवा करना। सेवा भी सभी कर रहे हैं, कोई नाती पोतोंकी सेवा, लड़कों की सेवा, स्त्रीकी सेवा, दुकानकी सेवा और जाने दो ग्राहकों की सेवा, दुकान पर ग्राहक आये, भला जिससे बहुत आशा हो, पान मँगाना, प्रेमसे बोलना अपनी गद्दी पर बैठाना, लो यह ग्राहकोंकी सेवा है। कौन सेवा नहीं कर रहा है। गुरुसेवा बहुत बड़ी विकट मालूम हो और यह सब मोहियोंकी सेवा सस्ती सुगम मालूम हो तो खुद ही अपने आपसे अन्तरमें उत्तर लो कि हम कुछ क्या भला कर रहे हैं ? गुरुसेवामें चारित्रगुणकी वृद्धिका सम्बन्ध है। रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये गुण हैं ना। तो इन ६ कामोंसे इस ही की पुष्टि होती है, किस कामसे किस गुणकी मुख्यता पुष्ट है, यह भी साथमें परखते जाइए। गुरुसेवासे चारित्र गुणकी पुष्टि होती है।

स्वाध्याय— जो पढ़ा लिखा है वह कुछ न कुछ अध्ययन किए बिना रह नहीं सकता। अब वह चाहे स्वका अध्ययन करे और चाहे उपन्यास, कहानी, रोकड़ अखबार आदि आदि और-और चीजोंका अध्ययन करे, पर पढ़े लिखे लोग अध्ययन किए बिना रह नहीं सकते हैं। उन्हें तो चाहिए कुछ न कुछ पढ़नेको। अब भला बतलावो, ये ऋषि जनोंके वाक्य जिनमें उन्होंने बहुत बड़ी अध्यात्मसाधना और तपस्याएँ करके सारभूततत्त्वको स्पष्ट रख दिया है उसके अध्ययनका उत्साह न जगे और उपन्यास, कहानी

गजट आदिक इनके लिए ही उत्साह जगे तो समझो कि हम क्लेशमार्ग पर जा रहे हैं।

संयम और तपका कर्तव्य— संयम किसी जबरदस्तसे फँस जाये तो संयम करना ही पड़ता है। नम्र बनकर रहें, हाथ जोड़कर रहें, खाना पीना भी छूट जाय और एक जगह पड़े हैं, पर स्ववश संयम नहीं किया जाता। परवश बहुत संयम हो जाता है। लंघनका, भूखे प्यासे रह जानेका ठंड गर्मी सह लेनेका ये परवश बहुत बहुत संयम बन जाते हैं, पर स्ववश संयम नहीं किया जाता। स्ववश संयममें ज्ञानबल बढ़ता, आनन्द प्रकट होता है। तप इच्छावोंका निरोध करना तप है। अनेक इच्छाएँ होती हैं और उन्हें कुचलकर दिल मसोस कर रह जाना पड़ता है। तप तो रोज-रोज सभी लोग कर रहे हैं। भला किसकी इच्छा सफल हो पायी है? उन्हें दिल मसोसकर झक मारकर उदास बनकर बैठ जाना पड़ता है। बड़ी तपस्याएँ करते हैं, पर ये सब परवशकी बातें हैं। स्ववश प्रसन्नताके साथ इच्छा चूँकि विभाव है, दु:खकारी है, इससे मुझे हटे रहना है ऐसा परिणाम रख कर सहज ही इच्छासे दूर रहना यह तप है।

दानका कर्तव्य— दान यह भी प्रगतिका काम है। भला जिन जीवों का ख्याल करके हम पाप ही पाप कमाते हैं और श्रम विकल्प क्लेश ही क्लेश उठाते हैं उनके लिए तो यह कमाया हुआ समस्त धन भी लगानेका उत्साह जगे और धर्महीन दीन दुखियोंके उपकार हित हीन अन्य पुरुषोंके उपकारहित धन त्यागनेका भाव न बने तो बतावो कौन सी भलाई उसमें है? एक कवि ने सबसे अधिक दानी कंजूसको मजाक करते हुए बताया है। जो कंजूस न अपने लिए कुछ खर्च कर सके, न परिजन मित्रजनोंके लिए न धर्मके लिए खर्च कर सके। खूब पूराका पूरा ही यह मरकर साराक सारा अपने लड़कोंको छोड़ जाता है, दे जाता है। देखो, उसमें से कुछ भी खर्च नहीं किया और साराका सारा धन दे दिया—ऐसे पुरुषकी मौत बहुत बुरी होती है। जो न दान कर सके न भोग कर सके, ऐसी कृपणतामें मरते समय बहुत वेदना होती है, यह सोच-सोच कर कि हाय यह सब मुझे छोड़ जाना पड़ा।

पूर्व प्रतिपादनोंका संक्षेपमें सार— भैया! इन ६ कर्तव्योंमें हमार रत्नत्रयका सम्बन्ध है। उन्हें करें और अपने आपके इस मनुष्यजीवनक सफल करें। इस प्रथम रंगमें भूमिका और भूमिकाके बाद जो प्रतिपत्त

बताया है, वह यह है कि मेरा हित क्या है ? इस अभिलापासे ऋषि संतों
वाणी सुनें और हिंसा, शिकार, चुगली, कपट, दीनता, झूठ, चोरी, कुशी
परिग्रह, अन्याय आदि पापोंको त्यागकर पुण्यकार्य व धर्मकार्य करें, जिस
धर्म, अर्थ, यश, सुख सभीमें उन्नति मिले।

॥ इति आत्मानुशासन प्रवचन प्रथम भाग सम्पूर्ण ॥

मुद्रक—खेमचन्द जैन, शास्त्रमाला प्रिंटिंग प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ